PREFACE.

A selection, in prose and verse, of passages so as to illustrate the gradual development of Hindi—such is the work now offered to the public. The task of selecting good passages, which may be read without harm by young students, has not been an easy one. With regard to the authors selected, I shall only say that my aim has throughout been to choose representative writers—writers representing either some school of thought or criticism, or some branch of literature. It will be seen that the prose section includes some passages on mythology, history, speculative philosophy, pure literary criticism, fiction, morals and folklore. The poetry section naturally cannot have such a wide field. And yet readers will observe that narrative, devotional, religious, martial, humorous, historical passages have been included.

Now, a word as regards the sources from which I have freely drawn. No Hindi anthologist can very well do without that monumental work—the *Shivasinhasaroja*, published in 1899, a collection of verses by nearly a thousand poets of different ages. A copy of this book was very kindly lent to me by Lala Sita Ram Sahib, Retired Deputy Collector. In the second place I have freely used the *Misrabandhuvinoda*, which is to Hindi Literature what the Cambridge History of Literature is to English The dates of the writers selected have mostly been taken from this work. It is not possible to mention all the works to which I am indebted ; but I may say here that I have been helped by the Bhushanagranthavali

Coleridge who complained—"Why are not more gems from our authors scattered over the country ? Grat books are not in every body's reach ; and though it is better to know them thoroughly than to know them only here and there, yet it is a good work to give a little to those who have neither time nor means to get more ' That is just it , if I cannot read the whole of Tulsidasa, if I have not the time to read the whole of Harischandra, why should I not be allowed to acquaint myself with all that is best and noblest in them ?

भूमिका

हमारे देश का साहित्य बहुत ही पुराना है। शिवसिंहसरोज में पहिला कवि पुष्य लिखा है जिसे भाषा की जड़ कहते हैं। पुष्य का जन्म काल ७१३ ई० के लगभग है। ऐसे ही भाषा का विस्तार भी बड़ा है। पञ्जाब, राजपूताना, कच्छ, मध्यभारत, बिहार उड़ीसा तक के रहने वाले भाषा कविता करते हैं। भिन्न भिन्न प्रान्त की भाषाओं में कुछ न कुछ भेद है और भेद होना भी चाहिये पर उनके ग्रन्थ पढ़ने से जाना जाता है कि सब लोग एक ही भाषा लिखने का प्रयत्न करते हैं। बुन्देलखण्ड में तोता भोंगे को कहते हैं और यहाँ तोता कडुवे के अर्थ में प्रयोग किया जाता है पर कौन कहेगा कि पद्माकर भाषा का महाकवि नहीं है? यह भी एक कारण है जिस से भाषा कविता कभी कभी साधारण विद्वानों को बहुत ही क्लिष्ट जान पड़ती है। और यही इसकी यथोचित उन्नति में एक बाधा भी रही है। परदेशियों के राजशासन में कुतूहल अथवा अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के विचार से सैकड़ों हिन्दू फारसी उर्दू अङ्गरेज़ी के लेखक बन गए और जैसे नाना रंडियों और कथकों का उद्यम हो गया वैसेही कविता ने भी भाँटों का आश्रय लिया। पर भाषा अपने गौरव के प्रभाव से बीच बीच में साहित्य के रत्न उत्पन्न करती ही रही और आज दिन हमारी हिन्दी भाषा का साहित्य किसी सभ्य भाषावाले से घटा नहीं है। किसी ने ठीक कहा है; 'गुण न हेराना गुण-ग्राहक हेराना है।' भूषण और बिहारी इसी साहित्य के कारण अमर हैं। इसमें सन्देह नहीं कि तुलसीकृत रामायण घर घर पढ़ा जाता है। सूरदास के पद गली गली गाये जाते हैं। पर

प्रचार का एक कारण इनका धर्म विषयक होना है। इनमें कृष्ण का गुण गान ही इनके प्रचार का मुख्य कारण है। की मति शिक्षा प्रणाली के दोष से भ्रष्ट हो रही है वह अङ्गरेज़ी सन के मारे रामायण नहीं पढ़ते। उनको इस का रस चखाया नहीं गया। उर्दू गज़लों के पढ़ने वाले विद्यार्थी के दोहे क्या झेंगे? इसका परिणाम यह होता है कि अपने देश के साहित्य पना सारी बातों से उनको घृणा हो जाती है और वह कहीं नहीं रहते। विदेशीय साहित्य समझने की उनमें योग्यता हीं, अपना जानते नहीं और एक प्राचीन संस्कृत वाक्य के नुसार शिक्षित कहे जाने पर भी बिना सींग पूँछ के पशु जाते हैं। पर इस में उनका दोष ही क्या है? दोष उनकी क्षा का है। सात बरस मिडिल स्कूल में पढ़कर छात्र अपने के चार कवियों के नाम नहीं जानते उनके ग्रंथों को समझना दूसरी बात है। अङ्गरेज़ी स्कूलों की दशा इससे भी बुरी यहाँ भाषा की पढ़ाई गौण समझी जाती है। पण्डित संस्कृत विद्वान होते हैं। और पण्डित भी क्या करें कोर्स में जो ग्रंथ यत होंगे उन्हीं को पढ़ाकर लड़कों को परीक्षा पास कराना पना कर्त्तव्य मानते हैं। इस विषय की घटी को पूरी करने लिये यह प्रयत्न किया गया है। इसमें मध्यम काल से आज क के कुछ कवियों और गद्य लेखकों के अच्छे अच्छे लेखों का ग्रह है।

गद्य भाग के विषय में इतना और कहने की आवश्यकता कि यद्यपि आज तक जितनी जाँच हुई है उस से पहिला द्य लेख गुरू गोरखनाथ जी का मिला है पर लल्लू जी ही र्व सम्मति से आज कल के गद्य के जन्मदाता माने जाते हैं। दल मिश्र उनके समकालीन थे। इनके पीछे कई गद्य लेखक

ये पर उनके लेख लुप्त प्राय हो गये और ७० बरस पीछे गद्य का
हार फिर राजा लक्ष्मणसिंह ने किया। अब तो इसके सैकड़ों
लिखने वाले हैं और होते जाते हैं।

पद्य भाग के सब से प्राचीन कवि गोस्वामी तुलसीदास जी
हैं। इनको तीन सौ बरस हुए पर इनके वाक्यों के बिना भाषा
साहित्य की शिक्षा सदा अपूर्ण ही रहेगी।

सूर सूर तुलसी ससी, उडुगण केशवदास ।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करत प्रकास ॥

इस वाक्य के अनुसार तीनों कवियों के वाक्य इस संग्रह
में हैं। अब के कवियों में पूर्ण शशि नहीं तो इन्दुपद के चरितार्थ
करनेवाले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी का भी कुछ पद्य रख दिया गया
है। खद्योतों से प्रकाश थोड़ा होता है पर अँधेरी रात की
शोभा बढ़ जाती है इससे उनके कुछ पद्य भी इस में रखना
उचित ही है।

प्रयाग
भाद्रकृष्ण ४

सीताराम

गद्य भाग

पृष्ठ

पद्य भाग

विषय-सूची

गद्य भाग

पद्य भाग

प्राचीन हिन्दी भाषा के कुछ उदाहरण

(

HINDI SELECTIONS

IN

PROSE AND POETRY

गद्य भाग

१–प्रार्थना और वर्णन

(सन् १८०३)

सकल सिद्धिदायक जो देवतन में नायक गणपति को प्रणाम करता हूँ कि जिनके चरणकमल के स्मरण किये से विघ्न दूर होता है और दिन दिन हिय में सुमति उपजती जो संसार में लोग अच्छा अच्छा भोग विलास कर सब से धन्य धन्य कहा अन्त में परम पद को पहुँचते हैं कि जहां इन्द्र आदि देवता सब भी जाने को ललचाते रहते हैं।

वर्णन

कुंड में का अच्छा निर्मल पानी कि जिसमें कमल के फूलों पर भौंरे गूंज रहे थे, तिस पर हंस सारस चक्रवाक आदि पक्षी भी तीर तीर सुहावन शब्द बोलते, आस पास के गाछों पर कुछ कुछ कोकिलें कुहुक रहे थे, जैसा वसन्तऋतु का घर ही होय।

—सदलमिश्र

विरियाँ यशोदा के लड़की हुई है, सो कंस के लादो, अपने जाने का कारण कहता हूँ सो सुनो।

दो०—नन्द जशोदा तप कियो मोहीं सों मन लाय।
देख्यो चाहत बाल सुख रहौं कछुक दिन जाय॥

फिर कँस को मार आन मिलूंगा, तुम अपने मन में धैर्य धरो, ऐसे वसुदेव देवकी को समझाय श्रीकृष्ण बालक बन रोने लगे, और अपनी माया फैलादी तब तो वसुदेव देवकी का ज्ञान गया और जाना कि हमारे पुत्र भया। यह समझ दश सहस्र गाय मन में सुकल्प कर लड़के के गोद में उठा छाती से लगा लिया, उसका मुख देख देख दोनो लम्बी साँस भर भर आपस में कहने लगे जो किसी रीति से इस लड़के को भगा दीजे तो कँस पापी के हाथ से बचे, वसुदेव बोले।

चौ०—विधना बिन राखे नहि कोई। कर्म लिखा सोई फल होई॥
तब कर जोर देवकी कहै। नंद मित्र गोकुल में रहै॥
पीर यशोदा हरै हमारी। नारि रोहिणी तहाँ तिहारी॥

इस बालक को वहाँ ले जाओ, यों सुन वसुदेव अकुला कर कहने लगे कि, इस कठिन बन्धन से छूट कैसे ले जाऊँ? ज्यों इतनी बात कही त्यों सब बेड़ी हथकड़ी खुल पड़ी, चारों ओर के किवाड़ खुल गये, पहरुये अचेत नींद बश भये तब तो वसुदेवजी ने श्रीकृष्ण को सूप में रख शिर पर धर लिया और झटपट ही गोकुल को प्रस्थान किया।

सो०—ऊपर बरसे देव पीछे सिंह जु गुञ्जरै।
शोचत हैं वसुदेव यमुना देखि प्रवाह अति॥

नदी तीर खड़े हो वसुदेव विचार करने लगे कि, पीछे तो सिंह बोलता है और आगे अथाह यमुना बह रही है अब क्या

करूँ। ऐसा कह भगवान् का ध्यान धर यमुना में पैठे। ज्यों ज्यों आगे जाते थे, त्यों त्यों नदी बढ़ती थी जब नाक तक पानी आया तब तो ये निपट घबराये, इनको व्याकुल जान श्रीकृष्ण ने अपना पाँव बढ़ाय हुंकार दिया। चरण छूते ही यमुना थाह हुई, वसुदेव पार हो नन्द की पौर पर जा पहुँचे, वहाँ किवाड़ खुले पाये, भीतर घस के देखें तो सब सोये पड़े हैं। देवी ने ऐसी मोहनी डाली थी, कि यशोदा को लड़की के होने की भी सुध न थी, वसुदेवजी ने कृष्ण को तो यशोदा के निकट सुला दिया और कन्या को ले अपना पन्थ लिया। नदी उतर फिर आये जहाँ बैठी देवकी सोचती थी तहाँ कन्या दे यहाँ की कुशल कही। सुनते ही देवकी प्रसन्न हो बोली—हे स्वामी! हमें कंस अब मार डाले तो भी कुछ चिन्ता नहीं, क्योंकि इस दुष्ट के हाथ से पुत्र तो बचा।

इतनी कथा सुनाय श्रीशुकदेव जी राजा परीक्षित से कहने लगे कि जब वसुदेव लड़की को ले आये तब किवाड़ ज्यों के त्यों भिड़ गये, और दोनों ने हथकड़ियाँ बेड़ियाँ पहर ली कन्या रोउठी। रोने की धुनि सुनि पहरुए जागे तो अपने अपने शस्त्र ले ले सावधान हो, लगे तुपक छोड़ने, तिनका शब्द सुन लगे हाथी चिंघाड़ने, सिंह दहाड़ने और कुत्ते भौंकने तिसी समय अँधेरी रात के बर्षते में एक रखवाले ने हाथ जोड़ के कंस से कहा—महाराज तुम्हारा बैरी उपजा, यह सुन कंस मूर्छित हो गिरा। X

दूसरा अध्याय

बालक का जन्म सुनते ही कंस डरता काँपता उठ खड़ा हुआ और खड्ग हाथ में ले गिरता पड़ता दौड़ा। छूटे बालों पसीने

हुआ धुपुड़ पुपुड़ करता जा बहिन के पास पहुँचा। जब उसके हाथ से लड़की छीन ली तब वह हाथ जोड़ बोली। अय भैया! यह कन्या तेरी भानजी है इसे मत मार, यह मेरी पेट पोछनी है। मारे हैं बालक छः तिनका दुःख मुझे अति सताता है, बिन काज कन्या को मार क्यों पाप बढ़ाता है। कंस बोला जीती लड़की तुझे न दूँगा, जो इसे व्याहेगा सो मुझे मारेगा। इतना कह बाहर आ ज्योंही चाहे कि फिराय कर पत्थर पर पटके त्योंही हाथ से छूट कन्या आकाश को गई और पुकार के यह कह गई, अरे कंस मेरे पटकने से क्या हुआ तेरा वैरी कहीं जन्म ले चुका अब तू जीता न बचेगा।

यह सुन कंस अछता पछता वहाँ आया जहाँ वसुदेव देवकी थे, आतेही उनके हाथ पाँव की हथकडी बेड़ी काट दी, और हाथ जोड़ कर कहने लगा कि मैंने बड़ा पाप किया जो तुम्हारे पुत्र मारे.यह कलंक कैसे छूटेगा? किस जन्म में मेरी गति होगी? तुम्हारे देवता झूँठे हुये जिन्होंने कहा था कि देवकी के आठवें गर्भ में लड़का होगा सो न हुआ लड़की हुई, वह भी हाथ से छूट स्वर्ग को गई। अब दयाकर मेरा दोष जी में मत रक्खो, क्योंकि कर्म्म का लिखा कोई मेट नहीं सकता। इस संसार में आये से जीना मरना संयोग वियोग मनुष्य का नहीं छूटता, जो ज्ञानी हैं सो मरना जीना समान हो जानते हैं और अभिमानी मित्र शत्रु कर मानते हैं। तुमतो बड़े साधु सत्यवादी हो जो हमारे हेतु अपने पुत्र ले आये।

ऐसे कह जब कंस बार बार हाथ जोड़ने लगा तब वसुदेवजी बोले—महाराज! तुम सच कहते हो इसमें तुम्हारा कुछ दोष नहीं विधाता ने यहीं हमारे कर्म्म में लिखा था। यों सुन कंस प्रसन्न हो अति हित से वसुदेव देवकी को अपने घर ले आया और

म जाय उन राजाओं को ले आओ जिन्हें तुम्हारे पिता ने पहाड़ की कन्दरा में मूंद रक्खा है। इतना वचन प्रभु के मुख से सुनते ही जरासन्ध का पुत्र सहदेव बहुत अच्छा कह कन्दरा के निकट जाय उसके मुख से शिला उठाय आठ सौ बीस सहस्र राजाओं को निकाल हरि के सन्मुख ले आया। आते ही हथकड़ियाँ बेड़ियाँ पहिने गले में सांकल लोहे की डाले, नख केश बढ़ाये तन छीन मन मलीन मैले भेष, सब राजा प्रभु के सम्मुख पाँति पाँति खड़े हो हाथ जोड़े बिनती कर बोले, हे कृपासिन्धु! दीनबन्धु! आपने भले समय आय हमारी सुध ली नहीं तो सब मर चुके थे। तुम्हारा दर्शन पाया हमारे जी में जी आया, पिछला दुःख सब गवाँया, महाराज! इस बात के सुनते ही कृपासागर श्रीकृष्णचन्द्र ने ज्यों उन पर दृष्टि की त्यों बात की बात में सहदेव इनको ले जाय हथकड़ी बेड़ी कड़ी कटवाय क्षौर कराय न्हिलाय धुलवाय षट्रस भोजन खिलाय वस्त्र आभूषण पहराय शस्त्र अस्त्र बँधवाय पुनि हरि के सोंहीं लिवाय लाया। उस काल श्रीकृष्णचन्द्र जी ने उन्हें चतुर्भुजी हो शंख चक्र गदा पद्म धारण कर दर्शन दिया। प्रभु का स्वरूप भूप देखते ही हाथ जोड़ बोले, नाथ! तुम संसार के कठिन बन्धन से जीव को छुड़ाते हो। तुम्हें जरासन्ध की बन्दि से हमें छुड़ाते क्या कठिन था? जैसे आपने कृपाकर हमें इस कठिन बन्धन से छुड़ाया तैसे ही अब हमें गृहरूप कूप से निकाल काम, क्रोध, लोभ, मोह से छुड़ाइये जो हम एकान्त बैठ आप का ध्यान धरें और भवसागर तरें। श्रीशुकदेव जी बोले कि, राजा! जब सब राजाओं ने ऐसे ज्ञान वैराग भरे वचन कहे तब श्रीकृष्णचन्द्र जी प्रसन्न हो बोले कि सुनो जिनके मन में मेरी भक्ति है वे निस्सन्देह मुक्ति मुक्ति पावेंगे। बंध मोक्ष मनही का कारण है, जिसका मन स्थिर है तिन्हें घर और बन समान है।

तुम किसी बात की चिन्ता मत करो। आनन्द से घर में बैठ के
नित नित राज कर प्रजा को पालो, गौ ब्राह्मण की सेवा में रहो,
झूँठ मत भाखो, काम क्रोध लोभ अभिमान तजो, भाव से
हरि को भजो, तुम निस्सन्देह परमपद पाओगे। जिसने
आय जिसने अभिमान किया वह बहुत न जिया, देखो इ—
सी ने किसे किसे न खो दिया।

चौपाई

सहस्र बाहु अति बली बखान्यो। परशुराम ताको बल भान्यो॥
बेणु भूप रावण हो गयो। गर्व आपने सोऊ गयो॥
भौमासुर बाणासुर बीर। गये गरब ते बिनस अधीर॥
यो मद गर्व करो जिन कोय। त्यागे गरब सो निर्भय होय॥

इतना कह श्रीकृष्णचन्द्र जी ने सब राजाओं से कहा कि अब तुम अपने अपने घर जाओ, कुटुम्ब से मिल अपना राज पाट संभाल हमारे न पहुँचने पहुँचने हस्तिनापुर में राजा युधिष्ठिर के यहाँ राजसूय यज्ञ में शीघ्र आओ, महाराज! इस वचन श्रीकृष्णचन्द्र जी के मुख से निकलते ही सहदेव ने सब राजाओं के जाने का सामान जितना चाहिये तितना बात की बात में ला उपस्थित किया। वे ले प्रभु से विदा हो अपने अपने देश को गये और श्रीकृष्णचन्द्र जी भी सहदेव के साथ हो भीम अर्जुन सहित वहाँ से चले चले आनन्द मङ्गल से हस्तिनापुर आये। आगे प्रभु ने राजा युधिष्ठिर के पास जाय जरासन्ध के मारने के समाचार और सब राजाओं के छुड़ाने के ब्योरे समेत कह सुनाये। इतनी कथा कह श्रीशुकदेव जी ने राजा परीक्षित से कहा कि, महाराज! श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द जी के हस्तिनापुर पहुँचते पहुँचते वे सब राजा भी अपनी अपनी सेना ले भेंट सहित आन पहुँचे और राजा युधिष्ठिर से भेंट

कर भेंट दे श्रीकृष्णचन्द्रजी की आज्ञा ले हस्तिनापुर के चारों ओर डेरा उतरे और यज्ञ की टहल में आ उपस्थित हुए।

दूसरा अध्याय.

श्रीशुकदेवजी बोले कि, राजा! जैसे यज्ञ राजा युधिष्ठिर ने किया और शिशुपाल मारा गया, तैसे मैं सब कथा कहता हूँ तुम चित्त दे सुनो। बीस सहस्र आठ सौ राजाओं के जाते ही चारों ओर के और जितने राजा थे क्या सूर्यवंशी और क्या चन्द्रवंशी तितने सब आय हस्तिनापुर में उपस्थित हुए। उस समय श्रीकृष्णचन्द्र और राजा युधिष्ठिर ने मिलकर सब राजाओं का सब भाँति शिष्टाचार कर समाधान किया और हरएक को एक एक काम यज्ञ का सौंपा। आगे श्रीकृष्णचन्द्रजी ने राजा युधिष्ठिर से कहा कि, महाराज! भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव सहित हम पाँचो भाई तो सब राजाओं को साथ ले ऊपर की टहल करें और आप ऋषि मुनि ब्राह्मणों को बुलाय यज्ञ को आरम्भ कीजिये। महाराज! इतनी बात के सुनते ही राजा युधिष्ठिर ने सब ऋषि मुनि ब्राह्मणों को बुलाय कर पूँछा कि, महाराज! जो जो वस्तु यज्ञ में चाहिये सो सो आज्ञा कीजे। महाराज! उस बात के सुनते ही ऋषि मुनि ब्राह्मणों ने ग्रन्थ देख देख यज्ञ की सब सामग्री एक पत्र पर लिख दी और राजा ने वहीं मँगवाय उनके आगे धरवा दी। ऋषि मुनि ब्राह्मणों ने मिल यज्ञ की वेदी रची, चारों वेद के ज्ञाता सब ऋषि मुनि ब्राह्मण वेदी के बीच आसन बिछाय बिछाय जा बैठे। पुनि पवित्र होय स्त्री सहित गाँठ जोड़ बाँध राजा युधिष्ठिर भी आय बैठे और द्रोणाचार्य्य, कृपाचार्य्य, धृतराष्ट्र, दुर्योधन, शिशुपाल आदि जितने योद्धा और बड़े बड़े राजा थे; वे भी आन बैठे। ब्राह्मणों

ने स्वस्तिवाचन फर गणेश पुजवाय, कलश स्थापन कर ग्रहस्थापन किया। राजा ने भरद्वाज, गौतम, वशिष्ठ, विश्वामित्र, वामदेव, पराशर, व्यास, कश्यप आदि बड़े बड़े ऋषि मुनि ब्राह्मणों का वरण किया और उन्होंने वेद मन्त्र पढ़ पढ़ सब देवताओं का आवाहन किया और राजा से यज्ञ का संकल्प करवाय होम का आरम्भ किया। महाराज! मन्त्र पढ़ पढ़ ऋषि मुनि ब्राह्मण आहुति लगे देने और देवता प्रत्यक्ष हाथ बढ़ाय बढ़ाय लेने। उस समय ब्राह्मण वेद पाठ करते थे और सब राजा होमने की सामग्री ला ला देते थे और राजा युधिष्ठिर होमते थे कि, इसमें निर्द्वन्द यज्ञ पूर्ण हुआ और राजा ने पूर्णाहुति दी। उस काल सुर नर मुनि सब राजा को धन्य धन्य कहने लगे और यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, बाजन बजाय बजाय यश गाय गाय फूल बर्षावने लगे। इतनी कथा कह श्रीशुकदेवजी ने परीक्षित से कहा कि, महाराज! यज्ञ से निश्चिन्त हो राजा युधिष्ठिर ने सहदेव को बुलाय के पूँछा—

चौ०—पहिले पूजा काको कीजे। अक्षत तिलक कौन को दीजै॥
कौन बड़ो देवन को ईश। ताहि पूजि हम नावैं शीश॥

सहदेवजी बोले कि, महाराज! सब देवों के देव हैं वसुदेव, कोई नहीं जानता इनका भेव। ये हैं ब्रह्मा रुद्र इन्द्र के ईश—इन्हींको पहिले पूज नवाइये शीश। जैसे तरुवर की जड़ में जल देने से सब शाखा हरी होती हैं, तैसे हरि की पूजा करने से सब देवता संतुष्ट होते हैं। यही जगत् के कर्ता हैं और यही उपजाते पालते मारते हैं। इनकी लीला है अनन्त, कोई नहीं जानता इनका अन्त। येई हैं प्रभु अलख अगोचर अविनाशी, इन्हींके चरण कमल सदा सेवती हैं कमला भई दासी। भक्तों के हेतु बार बार लेते हैं अवतार, तनु धर करते हैं लोक व्यवहार।

चौ०—बन्धु कहत घर बैठे आये। अपनी माया मोहिं भुलाये॥
महा मोह हम प्रेम भुलाने। ईश्वर को भ्राता करि जाने॥
इनते बड़ो न दीखत कोई। पूजा प्रथम इन्हीं की होई॥

महाराज! इस बात के सुनते ही सब ऋषि मुनि और राजा बोल उठे कि, राजा! सहदेवजी ने सत्य कहा प्रथम पूजने योग्य हरि ही हैं। तब तो राजा युधिष्ठिर ने श्रीकृष्णचन्द्रजी को सिंहासन पर बैठाय आठों पटरानियों समेत चन्दन अक्षत, पुष्प, धूप, दीप नैवेद्य कर पूजा। पुनि सब देवताओं, ऋषियों, मुनियों ब्राह्मणों और राजाओं की पूजा की। रंग रंग के जोड़े पहिनाय चन्दन केशर की खौरें की, फूलों के हार पहराय, सुगन्ध लगाय, यथायोग्य, राजा ने सब की मनुहार की, श्रीशुकदेवजी बोले कि राजा!

चौपाई

हरि पूजत सब को सुख भयो। शिशुपालहिं को शिर भू नयो॥

कितनी एक बेर तक तो वह शिर झुकाये मनहीं मन कुछ सोच विचार करता रहा। निदान कालवश हो अति क्रोधकर सिंहासन से उतर सभा के बीच निस्संकोच निडर हो बोला कि इस सभा में धृतराष्ट्र, दुर्योधन भीष्म, कर्ण द्रोणाचार्य्य आदि सब बड़े बड़े ज्ञानी मानी हैं, पर इस समय सबकी गति मति मारी गई। बड़े बड़े मुनीश बैठे रहे और नन्दगोप के सुत की पूजा भई और कोई कुछ न बोला। जिसने ब्रज में जन्म ले ग्वालबालों की जूँठी छाक खाई, तिसीको इस सभा में भई प्रभुताई बड़ाई।

चौपाई

ताहि बड़ो सब कहत अचेत। सुरपति को बलि कागहि देत॥

जिसने गोपी और ग्वालों से स्नेह किया, इस सभा में तिसको को सब से बड़ा साधु बनाय दिया। जिसने दूध, दही, मही,

लाखन, घर घर गुराय खाया, जगतों दुख बाढ़े में दिन रात।
बाट घाट में जिनने लिया दान, उनों का यहाँ हुआ सनमान। इ
में ने इन्द्र की पूजा जिनने छुड़ाई और पर्वत की पूजा ठहराई
पुनि पूजा की सब सामग्री गिरि के निकट मिलाय के आप निज
कर आपही खाई, तौ भी उसे लाज न आई। जिसको जाति पाँति
और माता पिता कुल धर्म का नहीं ठिकाना तिसे को सब
अविनाशी कर सब ने माना। इतनी कथा सुनाय श्रीशुकदेवजी ने
राजा परीक्षित से कहा कि, महाराज! इस भाँति से कालवश होके
राजा शिशुपाल अनेक अनेक बुरी बातें श्रीकृष्णचन्द्रजी को कहता
था और श्रीकृष्णचन्द्रजी सभी के बीच सिंहासन पर बैठे सुन सुन
एक एक बात पर एक एक लकीर खींचते थे। इस बीच भीष्म, कर्ण,
द्रोण, और बड़े बड़े राजा हरिनिन्दा सुन अति क्रोधकर बोले कि,
अरे मूर्ख! तू सभा में बैठा हमारे सन्मुख प्रभु की निन्दा करता है!
रे चाण्डाल! चुप रह नहीं अभी पछाड़ मार डालते हैं। महाराज!
यह कह शस्त्र ले ले सब राजा शिशुपाल के मारने को उठ धाये।
उस समय श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द ने सब को रोककर कहा कि
तुम इस पर शस्त्र मत करो, खड़े खड़े देखो यह आपसे आप ही
मारा जाता है। मैं इसके सौ अपराध सहूँगा, क्योंकि मैंने वचन
हारा है सौ से बढ़ती न सहूँगा, इसीलिये मैं रेखा काढ़ता जाता
हूँ। महाराज! इतनी बात के सुनते ही सब ने हाथ जो
श्रीकृष्णचन्द्र से पूँछा कि, कृपानाथ! इसका क्या भेद है जो आ
इसके सौ अपराध क्षमा करियेगा सो कृपाकर हमें समझाइये जि
हमारे मन का सन्देह जाय। प्रभु बोले कि जिस समय यह जन्म
था तिस समय इसके तीन नेत्र और चार भुजा थीं। यह समाचा
इसके पिता दमघोष राजा ने ज्योतिषियों और बड़े २ पण्डित
जाय के पूँछा कि यह लड़का कैसे हुआ इसका विचार क

मुझे उत्तर दो। राजा की बात सुनते ही पण्डित और ज्योतिषियों ने शास्त्र विचार के कहा कि, महाराज! यह बड़ा बली और प्रतापी होगा यह भी हमारे विचार में आता है कि जिसके मिलने से इसकी एक आंख और दो बांह गिर पड़ेंगी यह उसीके हाथ मारा जायगा। इतना सुन इसकी मा महादेवी शूरसेन की बेटी वसुदेव की बहिन हमारी फूफी अति उदास भई और आठ पहर पुत्र ही की चिन्ता में रहने लगी। कितने एक दिन पीछे एक समय पुत्र को लिये पिता के घर मथुरा में आई और इसे सब से मिलाया जब यह मुझसे मिला तब इसकी एक आंख और दो बांह गिर पड़ी। तब फूफी ने मुझे वचन बद्ध करके कहा कि इसको मौत तुम्हारे हाथ है तुम इसे मत मारियो, मैं यह भीख तुम से मांगती हूं। मैंने कहा अच्छा सौ अपराध हम इसके न गिनेंगे, इस उपरान्त जो अपराध करेगा तो हनेंगे। हमसे यह वचन ले फूफू सबसे बिदा हो इतना कह पुत्र सहित अपने घर गई कि, यह भी अपराध करेगा, जो कृष्ण के हाथ से मरेगा। महाराज! इतनी कथा सुनाय श्रीकृष्णजी ने सब राजाओं के मन का भ्रम मिटाय उन लकीरों को गिना जो एक एक अपराध पर खैंची थी, गिनते ही सौ से बढ़ती हुईं। तभी प्रभु ने सुदर्शनचक्र को आज्ञा दी उसने झट शिशुपाल का सिर काट डाला। उसके धड़ से जो ज्योति निकली सो एक बार तो आकाश को धाई फिर आय सबके देखते ही श्रीकृष्णचन्द्र के मुख में समाई यह चरित्र देख सुर, नर, मुनि जयजयकार करने लगे और पुष्प बर्षाने लगे उस काल श्रीमुरारी भक्त हितकारी ने इसे तीसरी मुक्ति दी और उसकी क्रिया की। इतनी कथा सुन राजा परीक्षित ने श्रीशुकदेवजी से पूंछा कि, महाराज! तीसरी मुक्ति प्रभु ने किस भांति दी सो मुझे समझाय के कहिये। श्रीशुकदेवजी बोले कि, राजा! एक बार यह हिरण्यकशिपु हुआ, तब

प्रभु ने नृसिंह अवतार ले तारा। दूसरी बेर रावण भया, तो हरि ने रामावतार ले इस का उद्धार किया। अब तीसरी बिरिया यहाँ इन्हीं से तीसरी मुक्ति भई। इतना सुन राजा ने मुनि से कहा कि महाराज अब आगे कथा कहिये। श्रीशुकदेवजी बोले कि, राजा! यज्ञ के हो चुकते ही राजा युधिष्ठिर ने सब राजाओं की स्त्री सहित बागे पहिराय ब्राह्मणों को अगणित दान दिया। देने का काम यज्ञ में राजा दुर्य्योधन का था, द्वेष कर एक की ठौर अनेक दिये। इसमें उसका यश हुआ तौ भी वह प्रसन्न न हुआ।

इतनी कथा कह श्रीशुकदेवजी ने राजा परीक्षित से कहा कि, महाराज यज्ञ के पूर्ण होते ही श्रीकृष्णजी राजा युधिष्ठिर से विदा हो सब सेना ले कुटुम्ब सहित हस्तिनापुर से चले चले द्वारकापुरी पधारे। प्रभु के पहुँचते ही घर घर मंगलाचार होने लगा और सारे नगर में आनन्द हो गया।

तीसरा अध्याय

राजा परीक्षित बोले कि, महाराज! राजसूय यज्ञ होने से सब कोई प्रसन्न हुये, एक दुर्य्योधन अप्रसन्न हुआ। इसका कारण क्या है? सो तुम मुझे समझाय के कहो जो मेरे मन का भ्रम जाय, श्रीशुकदेवजी बोले कि, राजा! तुम्हारे पितामह बड़े ज्ञानी थे, उन्होंने यज्ञ में जिसे जैसा देखा तिसे तैसा काम दिया। भीम को भोजन करवाने का अधिकारी किया, पूजा पर सहदेव को रक्खा। र नकुल रहे। सेवा करने पर अर्जुन ठहरे, श्रीकृष्णजी रे जूँठी पत्तल उठाने का काम लिया। दुर्य्योधन का कार्य्य दिया, और सब जितने राजा थे, तिन्होंने

: एक काम बाँट लिया। महाराज! सब निष्कपट यज्ञ की टहल
न थे पर एक राजा दुर्योधन ही कपट सहित काम करता था,
ने यह एक हो टाँट अनेक उड़ाता था। निज मन में यह बात
न कि इसका भण्डार टूटे तो अप्रतिष्ठा हो, पर भगवत् कृपा
अप्रतिष्ठा न हुई और यश होता था, इसलिये यह अप्रसन्न था
र यह यह भी नहीं जानता था कि मेरे हाथ में घर है एक
या दूँगा तो चार इकट्ठे होंगे। इतनी कथा कह श्रीशुकदेवजी
कि, राजा युधिष्ठिर ने सब राजाओं को खिलाय पिलाय
राय अति शिष्टाचार कर विदा किया, वे दूल साज साजकर
ने अपने देश को सिधारे। आगे राजा युधिष्ठिर पाण्डव और
रवों को ले गङ्गा स्नान को बाजे गाजे से गये। तीर पर जाय
विवत् कर रज लगाय आचमन कर स्त्री सहित नीर में पैठे, उनके
य सब ने स्नान किया, पुनि न्हाय धोय संध्या पूजा से निश्चिन्त
य वस्त्र आभूषण पहिन सबको साथ लिये राजा युधिष्ठिर कहाँ
ते हैं कि जहाँ मय दैत्य ने मन्दिर अति सुन्दर सुवर्ण के रत्न
टित बनाये थे। महाराज! वहाँ जाय राजा युधिष्ठिर सिंहासन
र विराजे उसकाल गन्धर्व गुण गाते थे, वन्दीजन यश बखानते थे
मा के बीच पातुर नृत्य करती थी, घर बाहर में मङ्गली लोग गाय
जाय मङ्गलाचार करते और राजा युधिष्ठिर की सभा इन्द्र की
ी सभा हो रही थी। इस बीच राजा युधिष्ठिर के आने के
माचार पाय राजा दुर्योधन भी कपट स्नेह किये वहाँ मिलने
ा बड़ी धूमधाम से आया। इतनी कथा कह श्रीशुकदेवजी ने राजा
तीक्षित से कहा कि, महाराज! वहाँ मय ने चौक के बीच ऐसा
ाम किया था कि जो कोई जाता था तिस थल में जल का भ्रम
ता था और जल में थल का. महाराज! ज्यों दुर्योधन मन्दिर
त्यों उसे थल के देख जल का भ्रम भया उसने वस्त्र समेत

ये, पुनि आगे बढ़ मन देख गम का धोखा हुआ उ
हाथ लों उनके कपड़े भी। । यह चरित्र देख सब सभा
तम्मतिला उठे, राजा युधिष्ठिर से हँसी को रोक मुँह दे
। महाराज! सब के हँस पड़ते ही राजा दुर्योधन की
त हो महाक्रोध कर उलटा फिर गया और सभा में बैठ कहे
श्रीकृष्ण का बल पाय युधिष्ठिर को अति अभिमान हुआ है
सभा में बैठ मेरी हँसी की, इसका पलटा मैं लूँ और उसक
तोड़ूँ, तो मेरा नाम दुर्योधन नहीं तो नहीं।

—? से

४—महर्षि कण्व का आश्रम

(सन् १८६०)

सारथी—जो आज्ञा। (पहिले रथ को भर दौड़ चलाया फि
मंद किया) देखिये रास छोड़ते ही घोड़े सिमट कर कैसे झपटे कि
टापों की धूल भी साथ न लगी। केश खड़े करके और कनौती
उठाकर घोड़े दौड़े क्या हैं उड़ आये हैं।

दुष्यन्त—सत्य है ऐसे झपटे कि छिन भर में हरिण से आगे
बढ़ आये। जो वस्तु पहले दूर होने के कारण छोटी दिखाई देती
थी सो अब बडी जान पड़ती है, और जो मिली हुई सो थी से
अब अलग अलग निकली, जो टेढ़ी थी सो सीधी हो गई। पहि
के वेग से थोड़े काल तक तो दूर और नगीच में कुछ अन्तर ही
रहा था। अब देखो हम इसे गिराते हैं। (धनुष पर बाण चढ़ा
ता)।

(नेपथ्य में) इसे मत मारो यह आश्रम का मृग है।

सारथी—(शब्द सुनता और देखता हुआ) महाराज, बाण के सम्मुख हरिण तो आया परन्तु ये दो तपस्वी नाहीं करते हैं कि इसे मारो मत।

दुष्यन्त—अच्छा तो घोड़ों को रोको।

सारथी—जो आज्ञा। (रास खेंचता हुआ)

(एक तपस्वी और उसका चेला आया)

तपस्वी—(बाँह उठाकर) हे राजा, यह मृग आश्रम का है, इसको मत मारो। देखो इसको मत मारो। इसके कोमल शरीर में जो बाण लगेगा सो मानों रुई के पुंज में आग लगेगी। कहाँ तुम्हारे वज्रबाण, कहाँ इसके अल्पप्राण! हे राजा, बाण को उतार लो, यह तो दुखियों की रक्षा के निमित्त है, निरपराधियों पर चलाने को नहीं है।

दुष्यन्त—(नमस्कार करके) लो मैं तीर को उतारे लेता हूँ। (बाण उतार लिया)

तपस्वी—(हर्ष से) हे पुरुकुल दीपक, आपको यही उचित है। लो हम भी आशीर्वाद देते हैं कि आपके आप ही सा चक्रवर्ती और धर्म्मात्मा पुत्र हो।

चेला—(दोनों हाथ उठाकर) आपका पुत्र धर्म्मज्ञ और चक्रवर्ती हो।

दुष्यन्त—(प्रणाम करके) ब्राह्मणों का वचन सिर माथे।

तपस्वी—हे राजा, हम यज्ञ के लिये समिध लेने जाते हैं। आगे मालिनी के तट पर गुरु कण्व का आश्रम दिखाई देता है। आपको अवकाश हो तो वहाँ चलकर अतिथि-सत्कार लीजिये। उस जगह तपस्वियों के धर्म्म-कार्य्य निर्विघ्न होते देखकर आप भी

जहाँ की दूाभ यज्ञ के लिए कट गई है। मृगछौने कैसे धीरे धीरे निधड़क चरते हैं।

सारथी—महाराज, अब मैंने भी तपोवन के चिह्न देखे।

दुष्यन्त—(थोड़ी दूर चलकर) सारथी, तपोवनवासियों के काम में कुछ विघ्न न पड़े इससे रथ को यहीं ठहरा दो, हम उतरलें।

सारथी—मैं रास खैंचता हूँ, महाराज उतरलें।

दुष्यन्त—(उतर कर और अपने वेष को देखकर) तपस्वियों के आश्रम में नम्रता से जाना कहा है इसलिये लो तुम मेरे राजचिह्न और धनुषबाण को लिए रहो (सारथी ने लेलिए) और जब तक मैं तपोवनवासियों के दर्शन करके फिर आऊँ तब तक तुम घोड़ों की पीठ ठंढी करलो।

सारथी—जो आज्ञा। (बाहर गया)

दुष्यन्त—(चारों ओर फिर कर और देखकर) अब मैं आश्रम में जाता हूँ। (आश्रम में घंसा) आज दक्षिण भुजा क्यों फड़कती है। (ठहर कर और कुछ सोचकर) यह तपोवन है यहाँ इस अच्छे सगुन का क्या फल होना है। कुछ आश्चर्य भी नहीं है, होनहार कहीं नहीं रुकती।

(नेपथ्य में) प्यारी सखियो, यहां आओ यहां आओ।

दुष्यन्त—(कान लगाकर) इस फुलवारी के दक्षिण ओर कुछ स्त्रियों का सा बोल सुनाई देता है (चारों ओर फिर कर और देखकर) अहा! ये तो तपस्वियों की कन्या हैं। अपने अपने विभव अनुसार कोई छोटी कोई बड़ी गगरी वृक्ष सींचने को लिए जाती हैं। धन्य है! कैसी मनोहर इनकी चितवन है। जैसे इनकी छवि रनवास की स्त्रियों में मिलनी दुर्लभ है, वैसे ही उपवन के फूलों की

इस वन की लता अपने रंग और सुगन्धि से लज्जित कर रही है। (खड़ा होकर उनकी ओर देखने लगा)

(शकुन्तला अनसूया और प्रियम्वदा आईं)

शकुन्तला—सखियो, यहाँ आओ।

अनसूया—हे सखी शकुन्तला, पिता कण्व को ये बिरछे तुझ से भी अधिक प्यारे होंगे, नहीं तो तुझ सुकुमारी को इनके सींचने की आज्ञा न दे जाते, तेरे चमेली से अङ्ग पर दया लाते।

शकुन्तला—सखी, निरी पिता की आज्ञा ही नहीं है, मेरा भी इन वृक्षों में सहोदर का सा स्नेह हो गया है।

(पेड़ को पानी दिया)

प्रियम्वदा—सखी शकुन्तला, जिन पौधों को तू सींच चुकी है सो तो इसी ग्रीष्म ऋतु में फूलेंगे। अब चल उनको भी सींचें जिनके फूलने के दिन निकल गये हैं क्योंकि उनके सींचने से अधिक पुण्य होगा।

शकुन्तला—ठीक है। (और वृक्षों को सींचती हुई)

दुष्यन्त—(चकित होकर आप ही आप) कण्व की बेटी शकुन्तला यही है।

शकुन्तला—(आगे देखकर) सखियो, देखो पवन के झोकों से साल के पत्ते कैसे हिलते हैं मानों वह हमको उँगलियों से अपने निकट बुलाता है, चलो वहीं चलें।

(सब वृक्षों के निकट गईं)

प्रियम्वदा—सखी, यहाँ घड़ीक विश्राम ले लें।

प्रियम्वदा—इसलिये कि जब तक तू इस आम के नीचे खड़ी है यह ऐसा शोभायमान हो रहा है कि मानों इससे लता लिपट रही है।

शकुन्तला—सखी, इसीसे तेरा नाम प्रियम्वदा हुआ है कि तू बात बहुत प्यारी कहती है।

दुष्यन्त—(आप ही आप) प्रियम्वदा ने बात प्यारी तो कही, परन्तु सत्य भी कही।

शकुन्तला—(पानी का घड़ा झुका दिया)

अनसूया—सखी शकुन्तला, इस लता को क्यों छोड़े जाती है जिसने पिता कण्व के आश्रम में तेरी ही भाँति रक्षा पाई है।

शकुन्तला—तब तो किसी दिन कहीं मैं आप अपने को न भूल जाऊँ। (लता के निकट गई) सखी प्रियम्वदा, मैं तुम्हें कुछ भले समाचार सुनाऊँगी।

प्रियम्वदा—क्या समाचार है, सखी।

शकुन्तला—देखो यह माधवी लता यद्यपि इसके फूलने के दिन अभी नहीं आये हैं कैसी जड़ से चोटी तक कलियों से लद रही है।

(दोनों तुरन्त लता के निकट गईं)

प्रियम्वदा—सखी कह।

शकुन्तला—मैं सखी क्या कहूँ तू ही देख ले।

प्रियम्वदा—(बड़े चाव से) हे शकुन्तला, इस सगुन के भरोसे पर मैं कहे देती हूँ कि तुझे अच्छा वर मिलेगा और यह थोड़े ही दिनों में तेरा हाथ गहेगा।

शकुन्तला—(रिस सी होकर) आज तुझे क्या सूझा है।

प्रियम्वदा—सखी यह बात मैंने हँसी से नहीं कही। हमने पिता कण्व के मुख से भी कुछ ऐसी ही सुनी है और इसीसे तेरा सींचना इस लता को सुफल हुआ है।

अनसूया—और इसीसे इस लता को तैंने बड़े चाव से सींचा है।

शकुन्तला—माधवी लता तो मेरी बहिन है इसे क्यों न सींचती (पानी का घड़ा झुका दिया)

दुष्यन्त—(आप ही आप) निश्चय यह ऋषि की बेटी सजातीय स्त्री से तो नहीं है। भला हो सो हो, इसका सत्य वृत्तान्त तो खोजना चाहिए।

—राजा लक्ष्मणसिंह
('शकुन्तला' से)

५—महाश्वेता की कथा

(सन् १८८०)

"हे राजपुत्र, इस अभागिनी तपस्विनी का वैराग्य-वृत्तान्त सुनकर आप क्या कीजिएगा? यह केवल शोकजनक और दुःखोत्पादक है। यदि सुनने की बड़ी अभिलाषा हो तो सुनिए। आपने सुना होगा कि देवलोक में अप्सरा रहती हैं। उनके चौदह कुल हैं। भगवान् लक्ष्मीपति के मानस से एक कुल उत्पन्न हुआ है और वेद, अग्नि, जल, पृथ्वी, पवन, अमृत, सूर्यकिरण, चन्द्रकिरण, सौदामिनी, मृत्यु और [illegible] इन ग्यारहों से ग्यारह कुल उत्पन्न हुए। दक्ष राजा की कन्या मुनि और अरिष्टा के स[ंग] गन्धर्वों का समागम होने से दो और कुल हुए। मुनि के गर्भ [से] ... उनमें और इन्द्र ने उनको अपने सुहृदों में परिगणित कर

प्रभाव और कीर्ति बढ़ाकर उन्हें गन्धर्वलोक का राजा कर दिया। भरतखण्ड के उत्तर किम्पुरुषवर्ष में हेमकूट नाम हिमपर्वत पर वह निवास करता है। वहाँ उसके अधीन कई सहस्र गन्धर्व हैं। उन्हीं ने चैत्ररथ नाम यह वन और अच्छोद नाम यह सरोवर निर्माण करके यह शिव की मूर्त्ति स्थापन की है। अरिष्टा के गर्भ से हंस नाम प्रसिद्ध गन्धर्व उत्पन्न हुआ और चित्ररथ ने अपने राज्य का एक अंश उसको देकर राजा किया। वह भी हेमकूट पर रहता है। गौरी नाम एक परम सुन्दर अप्सरा उसकी स्त्री है और यह अभागिन उन्हीं की पुत्री है। मेरा नाम महाश्वेता है। पिता को मेरे व्यतिरिक्त और कोई सन्तान न थी। बाल्यावस्था में, मैं एक की गोदी से दूसरे की गोदी में जाकर अपने मधुर वचन से माता पिता को प्रसन्न करती थी। वसन्त ऋतु में जैसे नव पल्लव और नव पल्लवों में कुसुम उदय होता है उसी प्रकार मेरे शरीर में यौवन का सञ्चार होने लगा।

एक समय जबकि ऋतुराज के समागम से कमलवन विकसित हुआ, आम में बौर लगने लगे, कोकिल शीतल वायु के प्रवाह से वृक्ष पर बैठी कुहू शब्द कर रही थी, और नाना प्रकार के फूलों पर भ्रमर भनकार कर रहे थे, मैं माता के साथ अच्छोद सरोवर में स्नान करने को गई और तीर पर के सुन्दर सुन्दर वृक्ष और कुञ्जों में भ्रमण कर रही थी। उस समय वायुप्रेरित एक सुरभि परिमल घ्राण गोचर हुआ। उस गन्ध से मस्त होकर उसका अनुसरण कर धीरे धीरे आगे बढ़ी तो क्या देखती हूँ कि एक महातेजस्वी, परमसुन्दर, सुकुमार, मुनिकुमार, सरोवर पर स्नान करने को चले आते हैं और संग में एक शिष्य भी था। मानो देवता अपने सहृद वसन्त को लिए तपस्वी वेष से कौपाग्नि शिव को प्रसन्न करने जाता है। पहिले मुनिकुमार के कान में एक

कुसुममञ्जरी थी। ऐसी मञ्जरी आजतक किसी ने देखी नहीं। उस की सुगन्ध से मैंने जाना कि इसी से वन आमोदित हो रहा है। फिर एकटक मुनिकुमार की ओर देखकर विस्मित हुई और मन में यह सोचने लगी कि ब्रह्मा ने इसके मुखचन्द्र की रचना के पूर्व कमल और चन्द्रमा को बनाकर अभ्यास किया था और जङ्घाओं और दोनों बाहुओं की बेर पहिले कदली स्तम्भ और मृणाल पर हाथ माँजा था, नहीं तो एक प्रकार की वस्तु बनाने का क्या प्रयोजन था? अर्थात् मुनिकुमार के मुखारविन्द को जब जब देखती थी तब तब नव अभिलाषा उत्पन्न होती थी। इस प्रकार देखते देखते मैं मदनान्ध हो गई। न जाने उनके रूप सम्पत्ति ने, यौवन-काल ने, वसन्त ऋतु ने, उस स्थल ने वा अनुराग ने मुझे उन्मत्त कर दिया। मैं बारम्बार मुनिकुमार को निमेशशून्य लोचन से देखने लगी और ऐसा बोध होने लगा जैसे कोई डोरी से बाँध कर मेरे हृदय को आकर्षण कर रहा है।

प्रस्वेद द्वारा मेरी सहज लज्जा बह चली। मकरध्वज के कुसुमशर के भय से मेरा शरीर काँपने लगा। रोमांच रूपी कर प्रसारण-पूर्वक कुमार को आलिङ्गन करने की अभिलाषा करने लगी। तब मैंने मन में सोचा कि दुराचारी मन्मथ ने शान्तमूर्ति मुनिकुमार के प्रति मुझसे प्रीति प्रकाश कराके कैसा दुर्घट कर्म्म किया है। स्त्रियाँ कैसी मूर्ख होती हैं। वे यह नहीं समझतीं कि किससे प्रीति करना उचित है और किससे नहीं। कहाँ तेजःपुंज मुनिकुमार और कहाँ एक सामान्यजन सुलभ स्त्री। ऐसा जान . कि इसने मुझे भावभङ्ग देखकर मेरा उपहास करना चाहा ती हूँ कि मेरा चित्त विकृत होता जाता है। तथापि वारण नहीं कर सकती। काम का कैसा प्रभाव है? कारण कितनी शत कन्या कुल-मर्यादा, परित्याग कर अपने

गौतम की वामाङ्गभागिनी होती हैं। इसने केवल मुझीसे ऐसा बरताव नहीं किया है। जो हो, अब यहाँ से प्रस्थान करना उचित है। ऐसा न हो कि ये पीछे क्रोधान्ध होकर शाप दे दें। मैंने सुना है कि ऋषि लोग बड़े क्रोधी होते हैं। सामान्य अपराध से भी कुपित होकर वे शाप दे देते हैं। अतएव अब यहाँ ठहरना उचित नहीं। यह स्थिर कर मैंने वहाँ से प्रस्थान करने की अभिलाषा की और मुनिकुमार के प्रणाम किया। मेरे प्रणाम करने पर मदनासक्त मुनिकुमार भी मोहित हुए और अवञ्चलता, स्वेद, रोमांच और कम्प इत्यादि सात्विक भाव के लक्षण उनके शरीर में स्पष्ट दिखाई देने लगे। उनके हृदय का भाव जानकर मैंने द्वितीय ऋषिकुमार के निकट जाकर प्रणाम किया और पूछा कि महाराज इनका नाम क्या है और ये किस मुनि के पुत्र हैं? इनके कान में जो कली है यह क्या किसी वृक्ष की सम्पत्ति है? आहा! उसकी कैसी सुन्दर सुगन्ध है। मैंने आजतक ऐसा प्रसून कभी नहीं सूँघा। मेरी बात सुनकर वे मुसकुरा कर बोले कि तू यह पूछ कर क्या करेगी? यदि बड़ी अभिलाषा है तो सुन।

श्वेतकेतु नाम एक महाप्रतापी ऋषि दिव्यलोक में वास करते हैं। उनका रूप जगद्विख्यात है। एक समय वे भगवान् की पूजा के हेतु कमल का फूल लेने मन्दाकिनी नदी के तीर पर उतरे। लक्ष्मी उनको देखकर मोहित हुई। उनके परस्पर समागम से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उस पुत्र को लेकर लक्ष्मी उनके सम्मुख आई और यह कह कर कि "महाराज, यह आपका पुत्र है" उसको उन्हें समर्पण करने लगी। महर्षि ने पुत्र का सम्पूर्ण संस्कार किया और उसके पुण्डरीक से उत्पन्न होने के कारण उसका नाम पुण्डरीक रक्खा। ये वही पुण्डरीक हैं। समुद्र मथन के समय एक पारिजात नाम वृक्ष निकला था। यह फूल उसी वृक्ष का है। यह इनके कान में

कैसे आया यह भी सुनो। आज चतुर्दशी है। मैं और वे
महादेव की सेवा के निमित्त नन्दनवन के समीपवर्ती मार्ग
कैलाश को जाते थे कि उक्त वन का माली यह फूल हाथ में
हमारे समीप आया और इनको प्रणाम करके कहने लगा कि
महाराज, जैसा आपका रूप है वैसाही यह आभूषण है, अतएव
अपने कान में रखकर मुझे कृतार्थ कीजिये। ये उसकी बात
कान न देकर आगे बढ़े तब मैंने उसके हाथ से फूल ले लिया
कहा कि "हे मित्र, इसमें दोष क्या है? वनदेवता का
अवश्य स्वीकार करना चाहिए" और फूल उनके कान में
दिया। जब वे यह इतिहास कह रहे थे तब मुनिकुमार हँस
बोले कि हे बाला! तू यह सब पूछ कर क्या करेगी? यदि
फूल के लेने की इच्छा हो तो ले और उन्होंने मेरे समीप
अपने कान से फूल निकाल मेरे कान में पहिना दिया। मेरे गले
उनका कर-स्पर्श होने से उनका अन्तःकरण विह्वल हो गया।
की रुद्राक्ष-माला छूट पड़ी, परन्तु मैंने उसको पृथ्वी पर
जाते रोक कर अपने गले में पहन लिया। उसी समय
आई और मुझसे कहने लगी कि देवी स्नान करके तुम्हारी
प्रतीक्षा करती है। शीघ्र चलो। हस्तिनी जैसे प्र म अङ्कुश
आघात से कुपित होती है उसी प्रकार मैं उस दासी की बातें
कर क्रोधयुक्त हुई और यह कह कर कि "माता बैठी है तो मैं
करूँ" अपने अनुरागाकृष्ट नेत्रों को उस प्राणप्रीतम के मुखमण्ड
से आकर्षण कर मैं स्नान करने को चली।

जब मैं कुछ दूर चली गई तब द्वितीय ऋषिकुमार ने अपने
मित्र की यह दशा देख किञ्चित् क्रोध प्रकाश करके कहा कि "
सखा पुण्डरीक! तुम्हारी यह क्या दशा है? तुम्हारा अन्तः
विकल क्यों हो गया है? इन्द्रियविवश लोग कुपथ में पाँव देते हैं

था सोती, अकेली भी या दुकेली, सुख में थी या दुःख में,
ने आक्रान्त किया था या व्याधि ने, यहाँ तक कि किसी बात
ज्ञान न रहा और चैतन्यशून्य हो गई। समयानुकूल कर्तव्याकर्तव्य
का कुछ विचार न करके चेटी से कहा कि कोई भीतर न
और मैं अटारी पर चढ़ गई और जहाँ मुनिकुमार से भेंट हुई
उस प्रदेश को महाप्रभावाधिष्ठित, अमृतरसाभिषिक्त और चन्द्र...
संपूर्ण ज्ञान बारम्बार देखने लगी। देखते देखते ऐसी उन्मत्त
गई कि उधर से जो वायु और पक्षी आते थे उनसे शीतल
समाचार पूछने लगी। मेरा अन्तःकरण ऐसा अनुरक्त हो गया
कि वे जो जो कर्म करते थे मैं वैसाही करने लगी। वे तपस्वी
यह समझकर मुझे तपस्या से फिर द्वेष न रहा। वे मुनिवेष
किये थे इससे तापस वेष से भी जघन्यता जाती रही।
कुसुम उनके कान में था इससे वह भी मनोहर बोध होने लगा
सुरलोक उनका वास स्थान होने से रमणीक जनाई देने लगा।
तक कि नलिनी जैसे सूर्य्य की पक्षपातिनी, कुमुदिनी चन्द्रमा
पक्षपातिनी और मयूरी जलधर की पक्षपातिनी है उसी प्रकार
भी उनकी पक्षपातिनी हो एकटक उसी ओर देखने लगी।
तरलिका नाम ताम्बूलवाहिनी भी बाहर गई थी। बहुकालान्तर
में आकर मुझसे कहने लगी कि हे राजपुत्री! हम लोगों ने
के तीर पर जिन ऋषिकुमारों को देखा था उनमें से एक, जिन्होंने
तुम्हारे कान में कुसुममञ्जरी पहिनाई थी, छिपकर मेरे निकट आये
और पूछने लगे कि हे स्त्री जिनके कान में मैंने फूल खोंस दिया था
वे कौन हैं? उनका नाम क्या है? वे किसकी पुत्री हैं और कहाँ
गई? मैंने विनयपूर्वक कहा कि वह गन्धर्वराज हंस की पुत्री हैं
और उनका नाम महाश्वेता है। हेमकूट पर्वत जहाँ गन्धर्व लोग
रहते हैं वहीं वे गई हैं। कुछ काल सोचकर फिर बोले कि

की तो है परन्तु तेरे स्वभाव से ज्ञात होता है कि चञ्चल नहीं एक बात कहता हूँ सुन। मैंने हाथ जोड़कर सादर निवेदन या कि धन्य है मेरे भाग्य कि आपने मुझे अपना विश्वासपात्र ना। आप ऐसे महात्मा के दृष्टिपातही से लोग अपने को कृतार्थ नते हैं। आप विश्वास कर आज्ञा कीजिए। मैं अत्यन्त चिरवा त हूँगी। इसमें सन्देह नहीं। मेरी विनीत बातों को सुनकर होंने मुझे अपनी उपकारिणी और प्राणदायिनी सखी के समान ना और स्नेह भरी आँखों से देखकर प्रसन्नतापूर्वक एक निकट में तमाल के पत्ते को लेकर उसके रस से नख द्वारा अपने कलवसन के एक खण्ड पर यह पत्रिका लिखकर मुझे दी और हा कि जिसमें और कोई न जाने महाश्वेता को अकेले में दे देना

मैं अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक उस पत्र को तरलिका के हाथ से ले या। उसमें लिखा था कि हंस जैसे मुक्तामाला में मृणाल के म से ठग जाता है उसी प्रकार मेरा मन मुक्तामय हार से वञ्चित कर तुम्हारे प्रति अनुरक्त हो रहा है। भ्रान्त पथिक का दिशाभ्रम, गे का स्वाद, अनमिल सम्भाषण करनेवाले की बात, नास्तिकों का र्वाक शास्त्र और उन्मत्त का सुरापान जैसा भयङ्कर होता है उसी कार यह पत्रिका मुझे भयङ्कर बोध हुई। उसको पढ़कर मैं उन्मत्त और विकलेन्द्रिय हो गई और बारबार पूछने लगी कि हे तरलिका! ने उन्हें कहाँ और किस भेष से देखा? उन्होंने क्या कहा? तू कितने समय तक वहाँ रही? वे मेरे पीछे पीछे कितनी दूर तक आये थे? परन्तु यह सोचकर कि प्रीतम सम्बन्धी बातें बार बार कहना सुनना अच्छा नहीं होता, सब लोगों को वहाँ से विदा कर दिया और अकेली तरलिका से बात करते करते दिन बिता दिया

—गदाधर सिंह

('कादम्बरी' से)

६—दिल्ली

(सन् १८८६)

प्रिय बालकगण ! तुम लोगों को इतिहास पढ़ने से यह होगा कि प्रथम हिन्दू और मुसलमानों के राज्य में यह दिल्ली राजाओं की राजधानी थी जिन्होंने कि अपनी विजयकीर्ति भूमण्डल में अमर बना दी है। महाभारत से विदित होता है सबसे पहिले महाराज युधिष्ठिर ने इस नगर को यमुना के तट बसाया था और इसका नाम "इन्द्रप्रस्थ" रखा था। इस समय इन्द्रप्रस्थ देहली के दक्षिण में है। अब भी एक स्थान पर प्रा किला बना हुआ है। जिसको "इन्द्र पत" कहते हैं।

महाराज युधिष्ठिर की मृत्यु के पीछे तीस वर्ष तक उन्हीं वंश वाले यहाँ राज्य करते रहे। उनके पीछे अनेक वंश के राजा ने सहस्रों वर्ष तक राज्य किया। अन्त में राजा दिलु हुआ जिस कुतुबमीनार के पास एक नवीन नगर बसाया और इसीसे नगर "दिल्लीपुर" अथवा "दिल्ली" कहलाया। राजा दिलु बालीर वर्ष तक राज्य करके अन्त में मारे गये। फिर उसके पीछे ७०८ वर्ष तक दिल्ली ऊजड़ ही पड़ी रही और राजधानी न रहने कारण उस समय वह ऐसी तुच्छ गिनी जाती थी कि चीन दे नामी बौद्ध यात्रियों ने अपनी हिन्दुस्तान की यात्राओं की पुस्तक में इसका नाम तक नहीं लिखा।

सन् १३६ ई० के लगभग तोमर वंश के राजा अनङ्गपाल हुए जिनका दूसरा नाम बिलनदेव था। उन्होंने दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया। इनके वंश में अनेक राजा हुए और वे ३०४ वर्ष तक दिल्ली में राज करते रहे। तदनन्तर वे अपनी राजधानी दिल्ली से कन्नौज को उठा ले गये। सम्वत् ११०६ में तोमर वंश का

लिहवाँ राजा अनंगपाल राठौर, राजपूतों से हार कर कन्नौज से ग आया और उसने फिर दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया। न् ११०६ ई० में लालकोट का क़िला बनवाया, जो अब तक तुबमीनार के पास वर्तमान है।

सन् ११५१ ई० में चौहान वंशी विशालदेव ने दिल्ली पर पना अधिकार किया और लालकोट के क़िले को बढ़ा कर और या क़िला बनाया। इसके चालीस वर्ष पीछे शाहबुद्दीन ग़ोरी न्दुस्तान पर चढ़ आया और पृथ्वीराज को हरा कर दिल्ली के तुबुद्दीन ऐबक को अपना प्रधान नियत करके काबुल चला या।

उसके पश्चात् दिल्ली बहुत काल तक मुसलमानों की राजधानी ही। सन् १३२१ ई० में तुग़लक शाह ने कुतुब मीनार के पूर्व की ओर पाँच मील की दूरी पर एक नगर तुगलकाबाद के नाम से बनाया जिसके चिह्न अब तक देख पड़ते हैं। सन् १६२० ई० में शाहजहाँ बादशाह ने नये सिरे से यमुना के तट पर दिल्ली शाहजहाँ बादशाह के नाम से बसाई और उसमें एक क़िला, जुम्मा मसजिद, शहरपनाह और बीच में नहर बनवाई। इसीको लोग दिल्ली कहते हैं।

आज कल की दिल्ली अनेक उत्तम और अद्भुत स्थानों से शोभित है। इनमें क़िला और जुम्मा मसजिद सब से उत्तम हैं। इससे ग्यारह मील की दूरी पर सब से अद्भुत कुतुब मीनार की लाट और लोहे की कीली है। दिल्ली का क़िला सन् १६३८ ई० में शाहजहाँ बादशाह ने बनवाया था। इसका घेरा डेढ़ मील का है। शहरपनाह में चार फाटक हैं जैसे—"देहली दरवाज़ा" "लाहोरी दरवाज़ा" "अजमेरी दरवाज़ा" और "कलकत्ता

रवाज़ा" के नाम से प्रसिद्ध है। चाँदनी चौक का चा
मील लम्बा और चालीस गज़ चौड़ा है। इसके मध्य में
की नहर बहती है, नहर के दोनों ओर वृक्ष और वृक्षों के
सड़कें हैं। इसी चौक के पास जुम्मा मसजिद एक ऊँचे
पर बनी हुई है जोकि देखने के योग्य है। मसजिद की दो
मीनारें १३० फ़ुट ऊँची लाल पत्थर और सङ्गमरमर की बनी
हैं। इसके ऊपर चढ़ने से सम्पूर्ण देहली और यमुना को
देख पड़ती है। यह मसजिद छः वर्ष में बनी थी और दस
रुपये इसके बनवाने में लगे थे।

क़िले के भीतर शाहजहाँ बादशाह ने महल बनवाये थे।
दरबार करने के लिये "दीवानख़ास" और "दीवानआम"
सुन्दर बने हुए थे। दीवानआम में एक सिंहासन दस फ़ुट ऊँ
सङ्गमरमर के खम्भों पर बना हुआ है। इसके पूर्व की
दीवानख़ास है। यह निरा सङ्गमरमर का है और इसकी दीव
और खम्भों पर बहुत से मनोहर फूल बने हुए हैं। इसीमें सुन
मोरों पर जड़ा हुआ "तख़्तताऊस" अर्थात् मयूरसिंहासन
रहता था, जिस पर बैठकर बादशाह अपना राजकाज किया कर
थे। दीवानख़ास के पास मोती मसजिद है और उससे मिले
बादशाह के महल और उपवन हैं। अङ्गरेज़ों ने महलों को तं
कर गोरों के रहने के लिये अब बारकें बनवाई हैं।

देहली से ग्यारह मील की दूरी पर क़ुतुबमीनार की
है। यह लाट शायद पृथिवी की सब लाटों से ऊँची है। पहिले
यह सात खन की बनी थी और लगभग सौ गज़ ऊँची थी
परन्तु सन् १३६८ ई० से उसके ऊपर का हिस्सा अचानक बिजली
के गिरने से गिर पड़ा। फ़िरोज़शाह ने उसका पाँचवाँ खन फि
से बनवाया और लाट की मरम्मत करवा दी थी। सन् १८

०में कुतुबमीनार के ऊपर के बुर्ज भूकम्प से गिर गये और
छल मीनारें भूकम्प से हिलने के कारण हिल गयीं जिससे कि,
। गिराऊ हो गयीं। अङ्गरेज़ों ने सत्रह हज़ार रुपये लगा कर
छल मीनारों की फिर से मरम्मत करा दी। अब यह भीतर पाँच
खण्ड की और २३८ फुट ऊँची है। उसका द्वार उत्तर की ओर
है और नीचे के खण्ड में पूजा करने के घण्टे पत्थर में खुदे हुए
हैं जिनसे विदित होता है कि हिन्दू राजाओं के समय में उसके
बनने में हाथ लगा था। कहते हैं पृथिवीराज ने यह लाट बनवाना
आरम्भ किया था; परन्तु मुसलमानों की चढ़ाई के कारण यह
पूरी नहीं हो सकी, कुतुबद्दीन ने अपने मालिक शहाबुद्दीन ग़ोरी
की जीत के स्मरणार्थ यह लाट ऊँची करा कर उस पर अपना
नाम खुदवा दिया। इसके पश्चात् शमसुद्दीन अल्तमश ने सन्
१२२० ई० में उसको पूरा किया। नीचे के खण्ड में कुरान की आयतें
और शहाबुद्दीन ग़ोरी का नाम (जिसको मुहम्मद बिनसाम भी
कहते हैं) और उसकी प्रशंसा भी लिखी है।

पाँचवें खण्ड में यह लिखा है कि सन् १३६८ ई० में इस
मीनार पर बिजली गिरी और फ़िरोज़शाह बादशाह ने इसकी
मरम्मत करवाई। इसके सिवाय अनेक स्थानों में नागरी फ़ारसी
अक्षरों में कहीं कहीं राज मज़दूरों के नाम और कहीं कुछ लिखा
हुआ है, जो विशेष पढ़ने के योग्य नहीं है। इस मीनार में तीन
सौ छियत्तर ३७६ सीढ़ियाँ हैं और उसकी चौड़ाई नीचे ४७ फ़ुट
२ इञ्च और ऊपर नौ फ़ुट है। इस लाट पर से दूर दूर की वस्तु
दीख पड़ती है। अब यहाँ तक ऐसी दृढ़ बनी हुई है कि, एक
पत्थर भी उसका नहीं निकला। इसीके पास एक अधूरी लाट और
और भी है जिसको अलाउद्दीन खिलजी ने बनवाना चाहा था;
परन्तु किसी कारण से पूरी न हो सकी।

इसी लाट के पास एक लोहे की कीली सोलह इञ्च मोट
धरती में गड़ी हुई है। धरती से ऊपर यह कीली २२ फुट ऊँ
है। कनिंगहम साहब लिखते हैं कि निश्चय नहीं हुआ कि य
कीली पृथिवी के नीचे कितनी गयी है? एक बार छब्बीस फु
तक धरती खोदी गयी। परन्तु कीली की जड़ का पता न
लगा। यह कीली राजा चन्द्र की बनवाई है और सदा के लि
उसकी अमरकीर्ति को प्रकाशित करती है। कीली पर श्
खुदे हैं। उनसे यह सब विदित होता है, उन श्लोकों का अ
अर्थ है:—

"जिसका यश भुजा पर खड्ग रूपी लेखनी से लिखा
जिसने बङ्गदेश में अपने शत्रुओं के समूह को युद्ध में बारम्ब
पराजित किया, जिसने सिन्धु नदी के सतमुखों को पार
के वाल्हिकों को लड़ाई में जीता, जिसका यश रूपी वायु आ
तक दक्षिण समुद्र को सुगन्धित कर रहा है, जिसने इस पृथिवी
को छोड़ स्वर्ग में वास किया, जो अपने सुकृतों से प्राप्त लोक के
देह रूप से गया है परन्तु यश रूप से पृथिवी में स्थित है
जिसके प्रचण्ड प्रताप ने घन की शान्तध्वनि के सदृश पृथिवी
को अभी तक नहीं छोड़ा है, जिसने अपने बचे हुए शत्रुओं क
नाश किया है, जिसने पृथिवी पर अपने भुजबल से उपार्जि
अतुल राज्य बहुत दिनों तक किया है। जिसका मुख पूर्णिमा के
सदृश दमक रहा है, उस चन्द्र नामक राजा ने विष्णु में ध्यान
धर विष्णुपदगिरि में भगवान् विष्णु की यह ध्वजा स्थापि
की है।"

इन श्लोकों से जान पड़ता है कि राजा चन्द्र की विष्णु भग
वान् में परम भक्ति थी। जहाँ अब कीली वर्त्तमान है, वहाँ उसके
समीप पहिले विष्णुपदगिरि नामक एक पहाड़ी थी। जिस प

विष्णु भगवान् का एक बड़ा भारी मन्दिर था। इसमें संशय नहीं कि यहाँ शिव विष्णु आदि के अनेक मन्दिर विराजमान थे जिनको मुसलमानों ने तोड़ कर अपनी मसजिद बनवाई है, जो कुतुब मसजिद के नाम से प्रसिद्ध है। इस मसजिद के खम्भों पर अब भी अनेक देवताओं के चित्र खुदे हैं और उसके दरवाज़े पर खुदा हुआ है कि—यह सत्ताईस मन्दिरों को तोड़ कर उन्हीं के मसालों से बनवाई गयी है। राजा चन्द्र का अधिक वृत्तान्त मालूम नहीं है। पर उसके नाम के कुछ अङ्कित रुपये पाये गये हैं जिससे उसका होना साबित होता है। अङ्गरेज़ों के मतानुसार यह कीली तीसरी या चौथी शताब्दी में गाड़ी गई थी। परन्तु चन्द्र कवि ने ("पृथिवीराज रासो में") इसका वृत्तान्त कुछ और ही दिया है। चन्द्र कवि लिखता है कि—चन्द्रवंश के सोलहवें राजा अनंगपाल ने पृथिवीराज के जन्मोत्सव के लिये व्यास नामक एक ब्राह्मण से मुहूर्त्त पूछा। ब्राह्मण ने कुछ सोच कर उत्तर दिया कि यही शुभ घड़ी है इस कीली को गाड़िये और यह शेष नाग के फन पर जा लगेगी और फिर तुम्हारा राज अचल हो जायगा। यह कह कर कीली धरती में गाड़ दी। परन्तु राजा को विश्वास न हुआ। उसने उस कीली को उखड़वा डाला। निकालने पर उसमें लोहू लगा हुआ देखा गया। तब ब्राह्मण ने राजा से कहा तुम्हारा राज्य इस कीली के समान अस्थिर हो जायगा और तोमर वंश के पीछे चौहान वंश राज करेगा और उनके पीछे मुसलमानों का राज्य होगा। राजा ने क्रोध करके उसे निकलवा दिया। वह अजमेर चला गया। जहाँ उसका बड़ा सम्मान हुआ।

खड्गराय कवि, शाहजहाँ बादशाह के समय में हुए थे, इस कीली का वृत्तान्त और कुछ लिखते हैं। उनका मत यह है कि, व्यास ब्राह्मण ने तोमरवंश के प्रथम राजा अनंगपाल को एक

पचीस अङ्गुल की लम्बी कीली दी और उनसे कहा कि आप इसे पृथ्वी में गाड़िये । शुभ संवत् (सन् ७९४ ई०) वैशाख वदी तेरस को राजा ने इस कीली को पृथिवी में गाड़ दिया। तब व्यास पण्डित ने कहा कि अब तुम्हारा राज्य अचल हो गया क्योंकि यह कीली शेषनाग के माथे में गड़ी है। जब ब्राह्मण चला गया तब राजा ने उसकी बात का विश्वास न कर कीली उखाड़ डाली पर देखा तो उसमें लोहू लगा था। राजा ने डर कर उस ब्राह्मण को फिर बुलवाया और कीली फिर गाड़ने की आज्ञा दी। परन्तु कीली उन्नीस अङ्गुल तक ही पृथिवी में गयी और ढीली रह गयी। तब ब्राह्मण ने कहा कि तुम्हारा राज्य इस कीली के सदृश अस्थिर रहेगा और उन्नीस पीढ़ी तक राज्य रहेगा फिर पीछे चौहान वंश के हाथ में जायगा और उनके पीछे मुसलमानों के अधिकार में चला जायगा। ऐसा ही हुआ। अनंगपाल के वंश में उन्नीस पीढ़ी तक ही राज्य रहा। कुछ लोग यह कहते हैं कि इस कीली के ढीली रह जाने से इसका नाम (ढिल्ली अर्थात् देहली) पड़ गया।

दिल्ली में अनेकों स्थान ऐसे ऐसे सुन्दर और अनुपम बने हुए हैं कि जो सारे संसार में प्रसिद्ध हैं। इनका जितना वर्णन किया जाय थोड़ा ही है। ऊपर लिखे हुए स्थान के सिवाय हुमायूँ का मक़बरा, कम्पनीबाग़ अशोक के खम्भ, अजायबघर, और सफदर जंग का मदरसा आदि, अनेक स्थान देखने योग्य हैं। वहाँ के जाने वाले लोगों को इन सब स्थानों का ध्यान अवश्य रखना चाहिये।

७—महाभारत की कथा

(सन् १९००)

अति प्राचीन काल से भारतवर्ष का राज्य सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी राजाओं के अधिकार में था। चन्द्रवंश में भरत नामक एक राजा बड़ा प्रतापी हुआ। उसीके नाम से उस वंश के लोग भारत कहलाते थे। महाभारत में उस वंश के अनेक महान व्यक्तियों के चरित्रों के वर्णन होने के कारण इस ग्रन्थ का यह नाम हुआ। इस वंश में एक राजा कुरु नामक बड़ा बली और तेजस्वी हुआ। उसने बड़ा तप किया। उसी के नाम पर उस स्थान का नाम जहाँ पर कि उसने तप किया था कुरुक्षेत्र पड़ा और उसके वंश के लोग कौरव कहलाए।

इस वंश की राजधानी हस्तिनापुर में थी। यह स्थान दिल्ली से साठ मील उत्तर पश्चिम के कोने में है। कुरु-वंश में शान्तनु नामक एक बड़ा राजा हुआ। उसको पहिली रानी से एक पुत्र देवव्रत नामक था जो कि भीष्म के नाम से विख्यात है, और दूसरी रानी से दो पुत्र चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य हुए। भीष्म ने तो यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि मैं राज-सिंहासन पर कदापि न बैठूँगा और न अपना विवाह करूँगा जिसमें कि और कोई राज्याधिकारी न उत्पन्न हो जाय। अतएव जब महाराज शान्तनु का देहान्त हुआ तो उसकी दूसरी रानी सत्यवती के दोनों बेटों में से बड़ा चित्राङ्गद सिंहासन पर बैठा, परन्तु वह युद्ध में शीघ्र ही मारा गया। उसके पश्चात् उसका छोटा भाई विचित्रवीर्य राजा हुआ। राज का काम काज भीष्म बड़ी सावधानी से सँभालता था, किन्तु विचित्रवीर्य भी थोड़ी ही अवस्था में अम्बिका और

अम्बालिक दो रानियाँ छोड़ कर मर गया। उनके कोई सन्तति न थी।

तब हतभागिनी सत्यवती ने भीष्म से कहा कि तुम सिंहासन पर बैठो परन्तु भीष्म ने अपनी प्रतिज्ञा का तोड़ना स्वीकार न किया। रानी अम्बिका से एक अन्धा पुत्र धृतराष्ट्र नाम का उत्पन्न हुआ, और अम्बालिक से पीतवर्ण का एक पुत्र हुआ, उसका नाम पाण्डु पड़ा, तथा एक दासी से भी विदुर नामक एक पुत्र हुआ जो कि बड़ा ही नीति कुशल और सौभाग्यवान् निकला। भीष्म ने उन तीनों बालकों का पालन पोषण बहुत अच्छी रीति से किया और उनको सब प्रकार की शिक्षाएँ बड़े यत्न से दीं।

बड़े भाई धृतराष्ट्र के जन्मान्ध होने के कारण पाण्डु राजा हुआ और विदुर मन्त्री बनाया गया। धृतराष्ट्र का विवाह सुबल के राजा की कन्या गान्धारी से हुआ था जो शकुनी की बहिन थी। और महाराज पाण्डु के दो विवाह हुए थे, जिनमें पहिला विवाह तो वसुदेव जी की भगिनी पृथा से हुआ था जो कि कुन्ती नाम से प्रसिद्ध है, और दूसरा विवाह मद्र देश के राजा शाल्य की बहिन माद्री से। पहिली रानी पृथा अर्थात् कुन्ती से महाराज पाण्डु के तीन पुत्र युधिष्ठिर, भीम, और अर्जुन उत्पन्न हुए और दूसरी रानी माद्री से दो पुत्र नकुल और सहदेव, येही पाँचों भाई पंच पाण्डव कहलाते हैं। महाराज पाण्डु बड़ा धीर वीर और प्रतापी था। उसने बहुत से देश विजय किए और बड़ी योग्यता से राज्य किया।

पाँचों भाई पाण्डवों की अवस्था जब कि थोड़ी ही थी कि महाराज पाण्डु का देहान्त हो गया। तब माद्री तो उसके साथ सती हो गई और कुन्ती, भीष्म तथा धृतराष्ट्र के कहने सुनने से

सन्तान की रक्षा के लिये रह कर अपने पाँचों पुत्रों का पालन पोषण करने लगी। अब राज्य का अधिकार धृतराष्ट्र के हाथ में आया। उसकी स्त्री गान्धारी के एक ऋषि के कहने से सौ पुत्र उत्पन्न हुए थे जिनमें सबसे बड़ा दुर्योधन था। ये लोग कौरव कहलाते थे।

पाँचों पाण्डव और सौ कौरव शस्त्र-विद्या सीखने के लिये द्रोणाचार्य के पास भेजे गये थे। द्रोणाचार्य भरद्वाज ऋषि के पुत्र थे और पांचाल देश के राजा द्रुपद से अप्रसन्न हो कर हस्तिनापुर चले आए थे। कृपाचार्य की बहिन उनको ब्याही थी। कृपाचार्य पुरुवंश के कुलगुरु थे। जब कौरव और पाण्डव लोग द्रोणाचार्य के पास गए तो उन्होंने उनसे कहा कि शास्त्र विद्या सीख कर तुम लोगों को हमारा एक काम करना पड़ेगा। यह सुन और सब तो चुप हो रहे, परन्तु अर्जुन ने उनके काम के करने की प्रतिज्ञा की। उन पाँचों पाण्डवों और सौओं कौरवों में युधिष्ठिर सबसे बड़े थे।

अस्त्र-विद्या तो द्रोणाचार्य से सभी शिष्यों ने सीखी परन्तु उन सभों में अर्जुन के समान कोई भी न हुआ, और बल में भीम सबसे अधिक था और खेल कूद में कौरवों को बहुधा कष्ट पहुँचाता था। ऐसे ही ऐसे कारणों से दुर्योधन तथा और सब कौरव भी पाण्डवों से द्वेष करने लगे।

कुन्ती का कर्ण नामक एक पुत्र और भी था जो कि उसको सबसे पहिले हुआ था। कुन्ती ने उसे गङ्गा में बहा दिया था और एक सारथी की स्त्री ने पाकर उसको पुत्र की भाँति पाला था। किन्तु उसका वृत्तान्त कोई भी नहीं जानता था। उसने भी द्रोणाचार्य से बाण-विद्या सीखी और वह भी बड़ा वीर,

पराक्रमी और दानी हुआ। दुर्योधन ने पाण्डवों को नीचा दिखाने और दबाने के लिये कर्ण को अङ्गदेश का राज्य देकर अपना मित्र बनाया।

अस्त्र-विद्या सिखलाने के पीछे द्रोणाचार्य ने उन शिष्यों से गुरुदक्षिणा में यह माँगा कि तुम लोग पाञ्चाल देश के राजा द्रुपद को विजय कर पकड़ लाओ। यह सुन कर कौरव और पाण्डवों ने उस पर चढ़ाई की। कौरव तो हार कर फिर आये परन्तु अर्जुन उसको जीत कर द्रोणाचार्य के पास पकड़ लाया। तब द्रोणाचार्य ने उससे कहा कि तुम डरो मत, तुमने कहा था कि राजा की और ब्राह्मण की मित्रता क्या, इसलिए हमने तुमको यहाँ बुलवाया है कि तुम अब भी हमसे मित्रता करलो और यह सोच कर कि बिना राज्य के हम तुम्हारी मित्रता के योग्य न होंगे, तुम्हारा आधा राज्य तो हम ले लेते हैं और आधा राज्य तुमको छोड़ देते हैं। यह कह कर उन्होंने द्रुपद को विदा कर दिया।

जब पाँचों पाण्डव बड़े हुए और उनकी धीरता और बुद्धिमत्ता चारों ओर प्रकाशित हुई, तो धृतराष्ट्र ने, अपने कर्तव्य और राजनीति पर विचार करके, युधिष्ठिर को युवराज नियत किया। किन्तु दुर्योधन, जो कि उनसे पहिले ही से द्वेष रखता था, इस बात से बहुत ही अप्रसन्न हुआ, और अनेक प्रकार से अपने पिता का चित्त पाँडवों की ओर से फेरने लगा। अन्त में धृतराष्ट्र ने विवश होकर कुछ दिनों के लिये अपने भतीजों को वारणावर्त (१) को भेज दिया।

दुर्योधन ने एक व्यक्ति को, जिसका नाम कि पुरोचन था, पहिले ही से बहुत सा धन देकर, पाण्डवों को नष्ट करने के लिये वारणावर्त में भेज दिया था। उसने वहाँ जाकर एक गृह लाक्षा (लाल) इत्यादि अतिशीघ्र जल उठने वाली वस्तुओं का बनाया

और जब पाण्डव वहाँ पहुँचे तो उनको जला देने के अभिप्राय से उसने बहुत आग्रह करके ठहराया। परन्तु हस्तिनापुर से चलते समय विदुर ने म्लेच्छ भाषा में युधिष्ठिर को उस घर का सब वृत्तान्त समझा दिया था, जिसके कारण पाण्डव कुशलपूर्वक बच कर वन में चले गए और पुरोचन स्वयं उसमें जल कर मर गया।

कुछ दिन तक ये पाँचों भाई, अपनी माता के सहित बिना घर द्वार के होकर जङ्गलों में मारे मारे फिरा किए और उनके बच जाने का वृत्तान्त किसी को ज्ञात न था। एक दिन उन लोगों को व्यासदेव मिल गये और उन्होंने ले जाकर उन लोगों को एक ब्राह्मण के घर रख दिया जहाँ कि वे लोग भिक्षा माँग कर ब्राह्मणों की भाँति अपना पालन करने लगे।

अब पाण्डवों का दिन धीरे धीरे लौटने लगा। श्रीकृष्ण जी ने भी, जिनसे कि द्रौपदी के स्वयंवर में पाण्डवों से पहिले पहिल भेंट हुई थी, उनके लिए बहुत धन धान्य भेजा था। निदान धीरे धीरे पहुँचते पहुँचते जब उनका समाचार दुर्योधन और उसके मित्रों को पहुँचा, तो वे लोग पाण्डवों के अनहित करने के लिये नए नए उपाय सोचने लगे, परन्तु भीष्म पितामह के समझाने से धृतराष्ट्र ने उनको बुलवा कर आधा राज्य बाँट दिया।

तदनंतर पाण्डव खाण्डव-प्रस्थ में, जिसका नाम कि फिर इन्द्रप्रस्थ पड़ गया था, अपनी राजधानी बनाकर राज्य करने लगे परस्पर विरोध होने के भय से उन लोगों ने यह नियम कर लिया था कि जब एक भाई द्रौपदी के पास हो तो और कोई उसके समीप न जाय और यदि जाय तो वह बारह वर्ष के वनवास का दण्ड भोगे। एक दिन एक ब्राह्मण की गौओं को डाकुओं से छुड़ाने के लिए अर्जुन को अपने अस्त्र लेने के लिये उस घर में जाना पड़ा जिसमें कि उस समय युधिष्ठिर और द्रौपदी थे। अतएव वह

बारह वर्ष के लिये इन्द्रप्रस्थ से चला गया। उस यात्रा में अर्जुन घूमता फिरता द्वारका में गया और वहाँ उसने श्रीकृष्ण जी की बहिन सुभद्रा से विवाह किया। जब नियत समय बीत गया तो वह अपनी नई दुलहिन को लेकर इन्द्रप्रस्थ को लौट आया।

पाण्डवों ने इन्द्रप्रस्थ में एक राजसदन ऐसा उत्तम और मनो हर बनवाया था कि जिसकी भीत और खम्भे सब सोने के थे और उनपर बहुमूल्य रत्नों के फूल बूटे बने हुए थे। उस घर का गृहप्रवेश बड़ी धूम धाम से हुआ था, जिसमें देश-देशान्तरों के राजे महाराजे उस समय न्योते में आए थे और देवर्षि नारद भी उस सभा में उपस्थित हुए थे। उन्होंने युधिष्ठिर से राजनीति-सम्बन्धी बहुत सी बातें कही सुनी और फिर स्वर्ग लोक का कुछ वर्णन करके कहा कि तुम्हारे पिता महाराज पाण्डु ने तुम्हारे पास यह सन्देशा भेजा है कि तुम राजसूय यज्ञ करो कि जिसके पुण्य से मुझे इन्द्र के भवन में रहने का अधिकार प्राप्त हो। यह सुन कर युधिष्ठिर ने अपने मन्त्रियों से इस विषय में सम्मति की और श्रीकृष्णजी को भी इस महान् कार्य के परामर्श के लिये बुलवाया।

श्रीकृष्ण जी ने युधिष्ठिर से कहा राजसूय यज्ञ वही कर सकता है जिसको कि सब राजे अपना महाराज मानें। किन्तु मगध देश का राजा जरासन्ध अपने को आपसे छोटा कभी स्वीकार न करेगा, अतएव जब तक वह जीता न जाय तब तक यह कार्य नहीं हो सकता। निदान सेना द्वारा उसका जय करना असम्भव समझ कर श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीम ये तीनों वेश बदल कर जरासन्ध के पास गए और वहाँ भीम ने मल्ल-युद्ध में उसको मार डाला। जरासन्ध ने बहुत से राजाओं को जीत करके अपने कारागृह में बन्द कर रक्खा था, उनको श्रीकृष्णजी ने छुड़ा दिया

तब उन सब राजाओं और जरासन्ध के पुत्र ने युधिष्ठिर को अपना महाराज स्वीकार किया।

फिर युधिष्ठिर के चारों भाई चारों ओर के सब देशों को जय करके बहुत सा धन सम्पत्ति ले आए और यज्ञ आरम्भ हो गया। उस यज्ञ में सब देशों के राजे आए थे और महाराज धृतराष्ट्र भी अपने पुत्रों तथा भीष्म पितामह इत्यादि सब लोगों के साथ उपस्थित थे। उस यज्ञ में श्रीकृष्ण जी का सब से प्रथम पूजन हुआ था। अतएव शिशुपाल नामक राजा से उनका उत्कर्ष सहन न हो सका और वह बहुत क्षोभ चलाने के कारण उसी सभा में श्रीकृष्ण जी के हाथ से मारा गया।

जब पाण्डवों का वैभव देख कर दुर्योधन हस्तिनापुर गया तो मारे डाह के खाना पीना सब भूल गया और उनके दुख देने के लिये अनेक उपायों को सोचने लगा। अन्त में जब और कोई उपाय न चल सका तो उसने अपने मामा शकुनी के कहने से महाराज युधिष्ठिर को जूआ खेलने के लिये बुलाया। क्योंकि महाराज युधिष्ठिर में जहाँ और सब गुण थे वहाँ यह एक बड़ा भारी दुर्गुण भी था कि उनको जूआ खेलने का बड़ा ही व्यसन था। इसी दुर्गुण के कारण उन पर तथा भारतवर्ष पर वे सब आपत्तियाँ आई कि जिनका वर्णन आगे किया जायगा। इस जूए के खेल में हारते हारते महाराज युधिष्ठिर ने अपना सर्वस्व हार दिया, पर तो भी खेलना बन्द न किया। अन्त में वे अपने चारों भाइयों को, अपने को और द्रौपदी को भी दाँव पर लगा कर हार गए परन्तु फिर एक बार पासा यह दाँव लगा कर फेंका गया कि जो अबकी बार हारे वह बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष गुप्तवास करे। और तेरह वर्ष के पश्चात् जब लौटे तो अपना राज्य पावे। यह

दाँव भी युधिष्ठिर हार गए। अतः कुन्ती को विदुर के घर छोड़
कर ये अपने भाइयों और द्रौपदी के साथ वन में चले गए।

महाराज युधिष्ठिर के समय बहुत से ब्राह्मण उनके साथ ही लिए थे। पाण्डवों ने बारह वर्ष वन में बहुत कष्ट तो बहुत पाया, पर उनको उस विपत्ति से लाभ भी बहुत कुछ हुआ। अर्जुन ने शस्त्र-विद्या में बड़ी निपुणता प्राप्त की और इन्द्र ने अनेक अस्त्र उनको दिए जो कि आगे चल कर युद्ध में बहुतही उपयोगी हुए। और अनेक ऋषियों से उत्तमोत्तम उपदेश उन्हें मिले। जब बारह वर्ष समाप्त हुए तो पाण्डवों ने ब्राह्मणों को तो विदा कर दिया और गुप्तवास के निमित्त अपना वेश बदल कर राजा विराट् के यहाँ नौकरी कर ली।

द्रौपदी भी रानी की सहचरी बनकर वहीं रहने लगी। दस महीने तक तो ये लोग यहाँ निर्विघ्नतापूर्वक रहे। गुप्तवास में कौरवों ने पाण्डवों को दूतों द्वारा बहुतेरा खोजवाया, जिसमें कि नियमानुसार उनको फिर से वनवास और गुप्तवास करना पड़े परन्तु कुछ सोध न मिली। कीचक बड़ा वीर और बली था, उसके कारण अड़ोस पड़ोस के राजा लोग विराट् से दबे रहते थे। इस लिये सुशर्मा नामक एक राजा ने दुर्योधन की सहायता लेकर विराट् पर चढ़ाई की। राजा विराट् तो सेना लेकर उससे लड़ने के लिये उधर गये और इधर कौरवों ने आकर उसकी गोशाला घेर ली। तब अर्जुन जो कि उस समय हीजड़ा बना हुआ था, राजा के बेटे चित्रकुमार को रथ पर बैठाकर और आप सारथी बनकर कौरवों से युद्ध कराने ले गया। परन्तु जब चित्रकुमार युद्ध भूमि देखकर भागा, तो उसने उसको पकड़कर रथ में बाँध दिया और स्वयं लड़कर कौरवों को भगा दिया। उधर राजा ने भी दोष

चारों भाइयों की सहायता से सुशर्मा को जीत लिया। दूसरे ही दिन पाण्डवों के गुप्तवास की अवधि भी पूरी हुई और जब उन लोगों ने अपने को प्रकाशित किया तो राजा विराट् ने उनसे क्षमा मांगी और अपने सब राज्य का अधिकार उनको देकर अपनी राजकुमारी उत्तरा का विवाह अर्जुन के बेटे अभिमन्यु से कर दिया।

पाण्डवों के प्रत्यक्ष होने तथा अभिमन्यु के विवाहोत्सव के उपलक्ष में विराट् के यहाँ बहुत से राजा लोग एकत्रित हुए थे और श्रीकृष्णजी तथा राजा द्रुपद भी वहाँ आए थे। उन लोगों ने सभा में परामर्श करके दुर्योधन के पास एक दूत इस अभिप्राय से भेजा कि पाण्डवों ने तो अपने प्रण का पूरा पूरा निर्वाह किया, अब उनको उनका राज्य मिल जाना चाहिए। परन्तु जब वहाँ से कोरा उत्तर मिला तब उन लोगों ने लड़ाई का प्रबन्ध किया और उस समय कौरवों और पाण्डवों दोनों की ओर से भारतवर्ष के सब राजाओं को न्योता भेजा गया। इस महान् युद्ध में भारतवर्ष के प्रायः सभी राजे उपस्थित हुए थे, उनमें से कोई किसी की ओर और कोई किसी की ओर था। श्रीकृष्णजी के पास दुर्योधन और अर्जुन एकही समय पहुँचे, इस कारण से श्रीकृष्णजी ने उन दोनों से कहा कि एक को तो मैं अपनी सब सेना दे दूँगा और एक ओर मैं अकेला रहूँगा। यह सुनकर अर्जुन ने तो श्रीकृष्णजी को लिया और दुर्योधन ने उनकी सेना को।

इधर भीष्म द्रोण प्रभृति सब लोगों ने धृतराष्ट्र को बहुत कुछ समझाया कि पाण्डवों को आधा राज्य दे ही देना उचित है; परन्तु वह अपने पुत्रों का ऐसा वशीभूत था कि कुछ न कर सका। अन्त में श्रीकृष्णजी स्वयं समझाने के लिए आए और धृतराष्ट्र को

भली भाँति उन्होंने सब आगा पीछा दिखलाया। तब वह तो सम
गया और स्वयं उसने तथा भीष्म द्रोण ने श्रीकृष्णजी के सा
मिलकर दुर्योधन को बहुत समझाया, परन्तु उसने केवल य
उत्तर दिया कि सूई की नोक के बराबर भी पृथ्वी मैं पाण्डवों
बिना युद्ध के न दूँगा। तब विवश होकर श्रीकृष्णजी वहाँ से
आए और उन्होंने युद्ध के निमित्त प्रस्थान करने के लिए पाण्ड
से कहा। लौटते समय श्रीकृष्णजी ने कर्ण को भी बहुत समझा
कि तुम अपने भाइयों का साथ दो, परन्तु उसने यही उत्तर दि
कि मैं जिसकी ओर हो चुका हूँ उसीकी ओर रहूँगा।

जब किसी उपाय से परस्पर मेल न हो सका, तब पाण्डवों
धृष्टद्युम्न को अपना सेनापति नियत करके संग्राम के लिए प्र
किया और कुरुक्षेत्र में आकर डेरा डाला। उधर कौरव भी अ
सेना सहित उनका सामना करने के लिये वहाँ आए। उनके से
पति भीष्मपितामह थे। पाण्डवों के साथ सात अक्षौहिणी
कौरवों के साथ ग्यारह अक्षौहिणी सेना थी।

निदान फिर वह महान् युद्ध आरम्भ हुआ और श्रीकृष्
अर्जुन के सारथी बन कर युद्ध में उसीके साथ रहे। अब अ
युद्ध के लिए रथ पर चढ़ा तो यह सोचकर कि अपने ही कु
सब लोगों का नाश होगा, उसका चित्त डगमगाने लगा
उसने संग्राम में जाना अस्वीकार किया। यह देखकर श्रीकृष्ण
अनेक उपदेशों से उसके चित्त को फिर लड़ने पर दृढ़ कि
श्रीकृष्णचन्द्र और अर्जुन का यह संवाद श्रीमद्भगवद्गीता में

भीष्मपितामह ने दस दिन सेनापति रह कर पाण्डवों की
की बहुतेरी सेनाएँ मारीं। और उन्होंने ऐसी वीरता से युद्ध कि
या कि सबको यह निश्चय हो गया कि अब पाण्डवों की विजय

होना असम्भव है, यहाँ तक कि जिधर भीष्म पितामह झुकते थे उधर हड़कम्प पड़ जाता था। पहिले ही श्रीकृष्णजीने यह प्रण किया था कि मैं इस युद्ध में शस्त्र ग्रहण नहीं करूँगा, परन्तु भीष्म का घोर युद्ध देखकर उनसे भी न रहा गया और झट वे रथ पर से कूद चक्र उठाकर उनकी ओर झपटे। अर्जुन ने देखकर उनको पुकारा कि आप अपना प्रण मत छोड़िये, मैं अब बहुत सावधानी से लड़ूँगा। अन्त में दसवें दिन भीष्म अपने ही बताए हुए उपाय से अर्जुन के बाणों से बिधकर गिरे और कुछ दिनों उन्हीं बाणों की शय्या पर पड़े हुए जीते रहे।

भीष्म पितामह के पश्चात् द्रोण कौरवों का सेनापति हुआ। उसने पाँच दिन तक बड़ा घोर संग्राम किया। दुर्योधन ने उससे युधिष्ठिर को जीता पकड़ने के लिये कहा था, परन्तु यह काम उससे न हो सका। तेरहवें दिन अर्जुन के बेटे अभिमन्यु ने ऐसी वीरता से लड़ाई की कि कौरवों की ओर का कोई वीर भी उसके सामने न ठहरा। अन्त में द्रोण कर्णादि छः महारथियों ने मिलकर अन्याय से उस अकेले लड़के को घेर लिया। तब वह बिचारा बहुत लड़कर मारा गया। चौदहवें दिन फिर बड़ा युद्ध हुआ। उस दिन अर्जुन ने जयद्रथ को मारा और भीम का पुत्र घटोत्कच कर्ण के हाथ से मारा गया। बिना किसी उपाय के द्रोणाचार्य्य का मारा जाना सर्वथा दुःसाध्य था इसलिये पन्द्रहवें दिन श्रीकृष्णजी ने यह समाचार चारों ओर फैला दिया कि अश्वत्थामा मारा गया। और युधिष्ठिर से भी उन्होंने बड़ी युक्ति से इस बात की साक्षी दिलवा दी। इस कारण अपने बेटे का मरना निश्चय जान कर द्रोण ने अस्त्र शस्त्र रख दिया। तब उसको धृष्टद्युम्न ने मार लिया। जब अश्व-त्थामा ने अपने पिता के इस भाँति मारे जाने का समाचार सुना तो वह बड़ा क्रोध करके लड़ा, पर अन्त को भाग गया।

सोलहवें दिन कर्ण कौरवों का सेनापति हुआ। उसने लड़ाई
में ऐसी वीरता और पराक्रम दिखलाया कि अर्जुन के भी छक्के छू
गए। नकुल, भीम और सहदेव को उसने भगा दिया। उसी दिन
भीम ने दुःशासन को पकड़कर उसके कलेजे का रुधिर पान किया
और अर्जुन ने बड़े युद्ध के पश्चात् कर्ण को मार गिराया।

कर्ण के मरने के पश्चात् सत्रहवें दिन शाल्य कौरवों का सेना-
पति नियत हुआ और युधिष्ठिर के हाथ से मारा गया। उसके मारे
जाने के पश्चात् भी लड़ाई होती रही। अन्त में जब दुर्योधन अकेला
रह गया तो भाग कर एक झील में जा छिपा। कौरवों की ओर के
योद्धाओं में से केवल कृपाचार्य्य, अश्वत्थामा और कृतवर्मा बचे थे,
परन्तु दुर्योधन को उनके बचे रहने का कुछ भी वृत्तान्त ज्ञात न
था। निदान जब पाण्डवों को दुर्योधन के छिपने का समाचार
मिला तो उन्होंने झील के किनारे जाकर उसको ललकारा, जिसे
सुनते ही वह बाहर निकल आया और उससे और भीम से गदायुद्ध
आरम्भ हुआ, जिसमें भीम ने जाँघ तोड़ कर उसे मार डाला।

अब युधिष्ठिर ने कौरवों पर विजय पाई और श्रीकृष्णजी
धृतराष्ट्र और गान्धारी को धैर्य्य देने के लिये हस्तिनापुर भेजे।
इधर अश्वत्थामा ने पाण्डवों की बची हुई सेना पर रात्रि के समय
आक्रमण किया, जिससे केवल पाँचों भाई और सात्यकी श्रीकृष्ण-
जी के उपाय से बच गए और शेष सब लोग मारे गए। इसके
पश्चात् महाराज युधिष्ठिर गङ्गाजी के तट पर अपने कुल के लोगों
का, जो कि लड़ाई में मारे गए थे, क्रिया-कर्म करने गये और फिर
हस्तिनापुर में जाकर राजसिंहासन पर बैठे।

भीष्मपितामह अभी तक उसी प्रकार से बाणशय्या पर रण-
भूमि में पड़े हुए थे। श्रीकृष्णजी की सम्मति से महाराज युधिष्ठिर

अपने भाइयों तथा बचे हुए राजाओं के साथ वहाँ गए और उन्होंने उनसे राजनीति तथा और और उपयोगी विषयों में उत्तमोत्तम उपदेश सुने। ये उपदेश वास्तव में पढ़ने के योग्य हैं, परन्तु वे इस पुस्तक में नहीं समा सकते, अतएव नहीं लिखे गए। उत्तरायण सूर्य के होने पर भीष्म अपने प्राण को त्यागकर स्वर्ग लोक को गए।

जब सब प्रकार से चारों ओर शान्ति स्थापित हो गई, तब श्रीकृष्णजी विदा होकर अपनी पुरी को गए और महाराज युधिष्ठिर ने अश्वमेध यज्ञ किया। कुछ दिनों के पश्चात् धृतराष्ट्र और गान्धारी विदा होकर वन को चले गए और कुन्ती भी उनके साथ गई। इन लोगों का देहान्त युद्ध होने के अट्ठारह वर्ष पीछे वन ही में हुआ था।

महाभारत के युद्ध के छत्तीस वर्ष पीछे एक दिन यादव लोग उन्मत्त होकर परस्पर लड़ गए और श्रीकृष्णजी बलरामजी, तथा दो और व्यक्तियों को छोड़कर शेष सब के सब कट मरे। तब श्रीकृष्णजी ने उनमें से एक को अर्जुन के बुलाने के लिये हस्तिनापुर भेज दिया और आप जङ्गल में लेट रहे। उस अवसर पर एक व्याध ने दूर से यह जान कर कि कोई मृग है, उनके पाँव में एक बाण मारा; जब निकट आकर उसने श्रीकृष्ण को देखा डर से काँपने लगा। किन्तु श्रीकृष्णजी ने उससे यह कहकर कि तुम डरो मत, जो होना होता है वही होता है, तुम्हारा कुछ दोष नहीं है। उसको धैर्य धराया और आप परम धाम को पधारे। बलरामजी श्रीकृष्णचन्द्र के पहिले ही इस असार संसार को छोड़ कर चले गए थे।

पीछे जब अर्जुन द्वारिका में आया तो यह दशा देखकर अत्यन्त दुखी हुआ और क्रिया-कर्म करने के पश्चात् स्त्रियों और बालकों को लेकर हस्तिनापुर की ओर चला।

अब उसी अर्जुन के, जिसने कि महाभारत का संग्राम जी
था डाकुओं ने लूट लिया और वह कुछ भी उनका न कर सका।

जब बचे हुए धन और मनुष्यों के साथ हस्तिनापुर में लौ
कर अर्जुन ने महाराज युधिष्ठिर से यह सब वृत्तान्त सुनाया,
वे बड़े ही सन्तप्त हुए और चित्त में विचारने लगे कि अब
लोगों के भी संसार छोड़ने का समय आ गया। अन्त में परीक्षि
के राज्य देकर पाँचों भाई हिमालय के चले गए और वहाँ
सुरपुर के सिधारे।

—जगन्नाथ द

८—रामायण की कथा

(सन् १९०५)

सूर्यवंशी राजाओं में सबसे पहले राजा इक्ष्वाकु हुए, जिन्
सरयू के तीर अयोध्या के अपनी राजधानी बनाया। उन्हीं के
में महाराज दशरथ बड़े प्रतापी राजा हुए, जिनके कौशल्
सुमित्रा और कैकेयी ये तीन रानियाँ थीं। जब उन तीन रानियों
से किसीके भी कोई बालक न हुआ और महाराज दशरथ के
बुढ़ापे ने आ घेरा, तो कुल के नाश के भय से दुखी उदास
उन्होंने अपने कुलगुरु महर्षि वशिष्ठ की आज्ञा से शास्त्रानु
पुत्रेष्टि नामक यज्ञ किया। ईश्वर की कृपा से यज्ञ के समाप्त ह
पर तीनों रानियाँ गर्भवती हुईं, और यथा समय बड़ी र
कौशल्या के गर्भ से चैत्र शुक्ला नवमी बुधवार के मध्याह्न के स
श्रीरामचन्द्रजी प्रकट हुए। उसीके प्रातःकाल दशमी के कैकेयी
गर्भ से भरतजी उत्पन्न हुए, और उसके दूसरे दिन एकादशी

सुमित्रा के गर्भ से दो बालक हुए, जिनमें बड़े का नाम श्रीलक्ष्मण और छोटे का नाम श्रीशत्रुघ्न रक्खा गया।

समय पाकर जब ये चारों राजकुमार बड़े हुए तो रूप, गुण, बल, बुद्धि और विद्या में उनके समान संसार में कोई न रहा। यों तो चारों भाइयों में परस्पर बड़ा ही स्नेह था, पर तो भी विशेष कर राम और लक्ष्मण में, तथा भरत और शत्रुघ्न में परस्पर कुछ अधिक प्रीति थी। श्रीरामचन्द्र अपने तीनों भाइयों को जैसा प्यार करते थे, वे तीनों भी उसी भाँति उन्हें बड़ा मानकर उन पर श्रद्धा और भक्ति रखते थे।

महाराज दशरथ ने अपनी वृद्धावस्था में भी पुत्रों को केवल लाड़चाव में नष्ट न होने दिया, वरन् उन्हें भली भाँति शस्त्र शास्त्र आदि विद्या तथा कला कौशल की पूरी शिक्षा दी। वे अपने चारों पुत्रों को शील स्वभाव, गुण, बल, विद्या और बुद्धि के निधान जान कर एक दिन पुरोहित मन्त्री तथा मित्रवर्गों के साथ सभा में बैठे हुए उनके विवाह की चर्चा कर रहे थे कि इतने ही में द्वारपाल ने आकर महर्षि विश्वामित्र के आने की सूचना दी। यह सुनते ही महाराज ने अपने मन्त्रियों के साथ द्वार तक जाकर विश्वामित्र की अगवानी की और उन्हें बड़े आदर से सभा में लाकर आसन पर बैठाया। परस्पर कुशल प्रश्न होने के उपरान्त विश्वामित्र ने दशरथ से कहा कि "राजन्! जिस तपोवन में हम लोग रहते और तपस्या तथा यज्ञादिक धर्म कर्म करते हैं, वहाँ पर आज कल कई राक्षसों ने बड़ा उपद्रव मचाया है; वे समय समय पर हम लोगों की यज्ञशाला को मल मूत्र और रुधिर आदि की वर्षा कर अपवित्र कर देते हैं जिससे यज्ञादिक कर्म नष्ट हो जाते हैं। यदि हम लोग चाहें तो उन दुष्टों को बात की बात में भस्म कर दें पर ऐसा हम

लिये नहीं कर सकते कि यज्ञ का अनुष्ठान करके क्रोध करना अनु-
चित है। क्योंकि ऐसा करने से यज्ञ का काम नष्ट हो जाता और
तपस्या भङ्ग हो जाती है। इसलिये हम चाहते हैं कि आप
दिनों के लिये आप अपने पराक्रमी प्रिय पुत्र राम और लक्ष्मण
हमारे साथ कर दीजिए और इसमें किसी बात की चि
कीजिए। यद्यपि ये अभी सुकुमार बालक हैं, तो भी हमारे
रक्षा करने में भली भाँति से समर्थ होंगे। महर्षि की
सुनकर महाराज का वीर हृदय भी एक सङ्ग काँप उठा।
महर्षि से बहुत कुछ विनय करके कहा कि राम और लक्ष्मण
बदले आप हमको या हमारी सब सेनाओं को ले जाएं,
महर्षि विश्वामित्र ने एक न मानी। तब कुलगुरु वशिष्ठ
समझाने बुझाने और धैर्य दिलाने पर महाराज ने अपने
प्यारे दोनों कुमारों को विश्वामित्र के साथ विदा किया,
दोनों भाई भी बड़ी प्रसन्नता से उनके साथ तपोवन में पहुँचे

विश्वामित्र के पहुँचने पर आश्रमवासी ऋषियों ने यज्ञ
किया। यह समाचार पाकर ज्योंही ताड़का नाम की
आकर यज्ञ में विघ्न डाला ही चाहती थी कि झट श्रीराम
एक ही बाण से उसे मार गिराया। उसके मरने का समाच
उसके दोनों पुत्र मारीच और सुबाहु क्रोध में भरे हुए यज्ञ
आकर बड़ा उपद्रव करने लगे; तब श्रीरामचन्द्र ने सुबाहु
एक ही बाण से मार डाला और मारीच अपने प्राण के डर
गया। उनके ऐसे पराक्रम और प्रताप को देखकर सभी
वासी ऋषि प्रसन्न होकर उनकी प्रशंसा करने लगे और वि
ने भी सन्तुष्ट होकर उन्हें कई दिव्य अस्त्र शस्त्र दिए औ
चलाने की रीति भी सिखा दी। फिर श्रीरामचन्द्र की प्र

न्होंने लक्ष्मणजी को भी वे सब अस्त्र शस्त्र देकर उनके चलाने की विधि बता दी।

यज्ञ के निर्विघ्न समाप्त हो जाने पर एक दिन विश्वामित्र ने श्रीरामचन्द्रजी से कहा कि मिथिला के राजा जनक के यहाँ आज कल एक बड़ा उत्सव और यज्ञ हो रहा है। निमंत्रण भी आया है, इसलिये हम लोग भी यज्ञ देखने के लिए जायँगे ; तुम दोनों भाई भी हमारे साथ चलो। वहाँ हम तुम्हें एक बड़ा ही अद्भुत धनुष दिखावेंगे। देवताओं ने प्रसन्न होकर वह धनुष राजा जनक के पुरखाओं को दिया था। वह इतना भारी है कि जो बड़े बड़े वीरों के उठाये भी नहीं उठ सकता। जब तुम उसे देखोगे तो बहुत प्रसन्न होगे। यह सुन प्रसन्न हो दोनों भाइयों ने महर्षि की आज्ञा बड़े आदर के साथ स्वीकार की।

प्रातःकाल शुभ मुहूर्त्त में महर्षि विश्वामित्र, श्रीराम, लक्ष्मण तथा अपने साथी ऋषियों को लेकर उत्तर दिशा की ओर चले और सन्ध्या होते होते नदी के तीर पहुँच कर वहीं टिक रहे श्रीरामचन्द्र ने उनसे उस स्थान का वृत्तान्त पूछा तो उन्होंने उसका इतिहास सुनाकर कहा कि इसीका नाम गिरिव्रज है। विश्वामित्र ने वहीं पर रात बितायी और सूर्योदय के पहिले उठकर ऋषियों को साथ ले स्नान सन्ध्या आदि नित्य कर्म किया और फिर वे सोन-नदी के तीर वाले जङ्गल में होते हुए दोपहर होते होते गङ्गा के तट पर बसी हुई विशाल नगरी में पहुँचे। वहाँ के राजा से भी भली भाँति आदर सत्कार पा और एक रात उसीके अतिथि बन कर दूसरे दिन मिथिला पहुँचे।

विश्वामित्र का आना सुन जनक ने अपने मन्त्री के साथ उनकी अगवानी कर बड़ी भक्तिभाव से ऋषियों के सहित उन्हें लाकर

अपने यहाँ टिकाया और जब महर्षि से उन्होंने दशरथ दुलारे राजकुमारों का परिचय पाया तो बहुत ही हर्षित और पुलकित हुए। विशेष कर श्रीरामचन्द्र के सुन्दर और अलौकिक रूप-लक्षणों को निहार कर वे अपने किए हुए प्रण पर पछताने लगे। निदान दूसरे दिन राजा जनक ने दोनों कुमारों के विश्वामित्र को बड़े आदर से अपनी सभा में बुलाया और उन्हें आसन पर बैठा हाथ जोड़ कर कहा कि मुनिवर! अब मेरे जो आज्ञा हो सो दीजिए। यह सुन महर्षि ने कहा कि राजन् आपके यहाँ जो जगत-विख्यात शिव-धनुष है उसके देखने की लालसा इन कुमारों के मन में लग रही है, सो दिखाकर उसे [illegible] पाए तो अनुग्रह हो। यह सुन जनक उसके लाने को कह अपने योद्धाओं को देकर महर्षि से अपनी कन्या 'सीता' के जन्म की कथा और उसके विवाह के लिए जो प्रण किया था सो कह सुनाने लगे। इतने ही में कई एक बलवान् योद्धा लोग गाड़ी पर लादे हुए एक मञ्जूषा (सन्दूक) को खींचकर ले आए जिसमें धनुष रक्खा था।

जनक के कहने और विश्वामित्र की आज्ञा से श्रीरामचन्द्र ने उठकर सहज ही में उस धनुष को उठा लिया, जिसके हिलाने में भी पृथ्वी के सभी वीर हार मान चुके थे और फिर जब (श्रीरामचन्द्र) उसे झुकाकर ज्योंही उसकी प्रत्यञ्चा चढ़ाने लगे त्योंही वह कड़कड़ा कर तड़ाके के साथ बीच से दो टूक हो गया। धनुष टूटते ही राजा जनक तथा रनिवास की सब स्त्रियों को बड़ा आनन्द हुआ, क्योंकि जब से श्रीरामचन्द्र जनकपुर में आये थे तब से उन्हें देखकर सभों की यही लालसा हुई थी कि किसी प्रकार श्रीजानकीजी का विवाह श्रीरामचन्द्र के साथ हो।

राजा जनक ने हाथ जोड़ कर विश्वामित्र से कहा कि मुनिवर! दशरथकुमार रामचन्द्र ने धनुष तोड़कर मेरी प्रतिज्ञा पूरी की है। इसलिए मैं अपनी प्यारी पुत्री सीता का विवाह इन्हींके साथ करके अपने कुल को पवित्र किया चाहता हूँ। इसलिए अब आप आज्ञा दें तो मेरे दूत रथों पर बैठ शीघ्र अयोध्या में जाकर यह मङ्गल समाचार महाराज दशरथ को सुनावें और उनसे विनती कर बरात सजवा कर उन्हें अपने साथ ही लिवा लावें। यह सुन विश्वामित्र ने हर्ष-पूर्वक जनक को दशरथ के पास निमन्त्रण भेजने की आज्ञा दी।—

महाराज दशरथ ने राजा जनक के निमन्त्रण-पत्र को पा कर सब समाचार जाना तो बहुत ही प्रसन्न हो बरात को साज गुरु वशिष्ठजी और अपने कुमारों (भरत और शत्रुघ्न) तथा बान्धवों के सहित शीघ्र ही जनकपुर जा पहुँचे और बड़े ही आदर के साथ जनक ने उनका आतिथ्य किया।

इसके अनन्तर राजा जनक ने प्यारी कन्या सीता का विवाह श्रीरामचन्द्र के साथ करके फिर विश्वामित्र की सम्मति से अपने छोटे भाई कुशध्वज की तीनों कन्याओं में से, उर्मिला लक्ष्मण को, माण्डवी भरत को और श्रुतकीर्ति शत्रुघ्न को ब्याह दी।

विवाह होने पर विदा हो ज्योंही महाराज दशरथ चला चाहते थे कि एकाएक महाक्रोधी परशुरामजी अस्त्र शस्त्र लिये सामने आ खड़े हुए, जिन्हें देखते ही मारे भय के सब लोग काँप उठे। परशुरामजी ने श्रीरामचन्द्र को पुकार कर क्रोध भरे वचनों से कहा कि दशरथ के लड़के! महादेवजी के पिनाक को तोड़कर तुझे बड़ा अभिमान हुआ है, इसलिये हम तुझे अपने इस धनुष को देते हैं -- तू इसको डोरी को चढ़ा और इस पर बाण

सकेगा तो अवश्य हमारे हाथों में तेरे प्राण आयेंगे। उनके ऐसे
से भरे वाक्यों को सुनकर श्रीरामचन्द्र ने उनकी बहुत स्तुति की
पर उन्होंने एक न मानी। तब तो श्रीरामचन्द्र ने उनके हाथ से
धनुष ले सहज ही में उसकी प्रत्यञ्चा चढ़ा कर उस पर बाण
खींचा। यह अलौकिक चमत्कार देखकर परशुरामजी लज्जित
उनकी बड़ी स्तुति करके चले गये और सब लोग हर्षित हो
रामचन्द्र की प्रशंसा करते हुए अपने अपने भाग्य को सराहने ल
कि आज परशुरामजी के हाथ से अच्छे बचे।

महाराज दशरथ अपने चारों पुत्रों और पतोहुओं को साथ
बड़े आनन्द से अयोध्यापुरी में आए। जब श्रीरामचन्द्र विवा
करके घर आये तब से नित्य नये नये उत्सव अयोध्या में घर
होने लगे।

थोड़े दिन पीछे केकय राजकुमार युधाजित अयोध्या में आ
अपने भानजे भरत और शत्रुघ्न को अपने साथ ले गये, और इ
श्रीरामचन्द्र अपने पिता के आधीन रह कर राजकाज और प्र
पालन में उनकी सहायता करने लगे।

रामचन्द्र के अलौकिक गुणों को देख सारी प्रजा की यह इच्
हुई कि अब महाराज इन्हें युवराज बनाकर पुत्र के राज-काज
सुख देखें और आप उससे अलग हो निश्चिन्तता से अपने दि
बितावें।

निदान महाराज दशरथ ने प्रजा का श्रीरामचन्द्र पर पूरा अ
राग और रामचन्द्र में प्रजापालन करने की पूर्ण शक्ति देख
शीघ्र ही उनके राज्याभिषेक करने का विचार किया। यह सम
चार तुरन्त राज्य भर में फैल गया जिससे सारी प्रजा आनन्दि
हो गई और उस मङ्गलमय समय की बाट बड़ी उत्कण्ठा से जो

लगी। जिस दिन श्रीरामचन्द्र को राज्याभिषेक होने वाला था उसके एक दिन पहले कैकेयी की दासी मन्थरा ने जाकर उनके इस अभिषेक का सन्देसा कहा, जिसे सुनकर मारे आनन्द के उसने उस दासी को अपना आभूषण उतार कर दे दिया। पर उसने उसे उठाकर फेंक दिया और भुँभला कर कहा कि रानी! तुम अपने हानि लाभ को कुछ भी नहीं समझतीं; भला जब सौत का लड़का राजगद्दी पर बैठेगा तब तुम्हारा लड़का उसका जन्म भर सेवक ही न बना रहेगा? इस प्रकार से बहुत सी बातें बना रानी का मन ऐसा फेर दिया कि वह भी उसकी बातों में बहक गई और पूछने लगी कि अब मुझे क्या करना चाहिए? मन्थरा रानी बात का स्मरण करा कर बोली कि महाराज ने जो तुम्हें दो वर देने के वचन दिए हैं, उन दोनों में से एक तो तुम यह मांगो कि राम को राज्य न हो, भरत को हो, और दूसरा यह मांगो कि राम चौदह वर्ष लौं बन में रहें। कैकेयी इस उपदेश को मानकर कोपभवन में जा बैठी और जब महाराज दशरथ आये तब उनके बहुत कुछ मनाने पर उसने ये ही दोनों वर माँगे। यह सुनते ही महाराज अत्यन्त व्याकुल होकर मूर्छित हो गए। मूर्छा दूर होने पर वे विह्वल हो विलाप करते हुए रानी को अनेक भाँति से समझाने लगे, पर उसने उनके विलाप पर कुछ भी ध्यान न दिया और अपना हठ न छोड़ा। तब विवश हो उन्होंने राम को बुला भेजा और सब वृत्तान्त कह सुनाया। इसे सुनकर श्रीरामचन्द्र के चित्त में कुछ भी दुःख न हुआ और वह वे बन जाने की आज्ञा देने के लिये पिता को समझाने लगे। निदान अनेक प्रकार से समझा बुझाकर श्रीरामचन्द्र अपनी माता कौशल्या तथा और लोगों से विदा होने के लिये आए। सबसे पहिले उनकी लक्ष्मणजी से भेंट हुई। तब श्रीरामचन्द्र ने उनसे सब समाचार कह सुनाया, जिसे सुनते

हा सुना। परन्तु पिता की आज्ञा टालने के भय से श्रीरामचन्द्र उन्हें समझा बुझाकर विदा किया। चलती वेर भरतजी श्रीरामचन्द्र की खड़ाऊँ लेते गए और अयोध्या पहुँचकर उन्होंने पिता का श्राद्ध आदि कर्म किया, तथा आप उसी खड़ाऊँ को राज-सिंहासन पर रख और स्वयं नन्दीग्राम में रह कर राम भजन करते हुए प्रजापालन करने लगे।

अनन्तर पुनः भरतजी के आगमन के भय से श्रीरामचन्द्र चित्रकूट पर्वत को छोड़ कर घोर से घोर वनों में प्रवेश करते और विराध इत्यादि राक्षसों को मारते हुए पञ्चवटी नामक वन में पहुँचे और वहाँ गोदावरी-तीर निवासी मुनियों की रक्षा करते हुए निवास करने लगे। थोड़े दिनों के उपरान्त वे पञ्चवटी को छोड़ और भी घने जङ्गल में चले गए। शूर्पणखा नाम की एक राक्षसी, जो कि रावण की बहिन थी, लक्ष्मणजी के रूप को देखकर अत्यन्त मोहित हो गई और अपना रूप सुन्दर बनाकर लक्ष्मण के पास आ उनसे विवाह करने के लिये हठ करने लगी। परन्तु उनसे कोरा उत्तर पाकर उसने सीता को मारना चाहा। तब तो स्त्री को मारना उचित न जान लक्ष्मण ने उसके नाक कान काट लिए। इस पर वह बड़ी कुपित हो, खर दूषण आदि राक्षसों को श्रीरामचन्द्र पर चढ़ा लाई, जिन्हें अकेले श्रीरामचन्द्र ने युद्ध में मार यमपुर को भेज दिया। यह देख दुःख और क्रोध से विकल हो शूर्पणखा अपने भाई रावण को बुला लाई और वह पापी भी मारीच को अपने साथ लेता आया। उस समय वह आप तो वन में छिपा रहा और मारीच को सोने के रङ्ग का बड़ा सुन्दर मृग बनाकर जानकीजी के सम्मुख किलोल करने के लिये भेज दिया। उसे देखकर जानकीजी ने श्रीरामचन्द्र से उसके पकड़ लाने के लिये बड़ा हठ किया। तब स्त्री के हठ से विवश हो श्रीरामचन्द्र धनुष-

बाण लिये मृग के पीछे पीछे जब बहुत दूर चले गये तब ह
मारीच ने कातर हो श्रीरामचन्द्र के से कण्ठस्वर से लक्ष्मणजी के
पुकारा, जिसे सुनते ही सीताजी ने घबराकर लक्ष्मणजी से कहा
कि तुम अभी जाओ, देखो तुम्हारे भाई पर कोई बड़ा कष्ट
है। यह सुन लक्ष्मणजी ने उन्हें बहुत कुछ समझाया पर वह उन्हें
जाने के लिये बार बार कहने लगीं तब विवश हो लक्ष्मणजी उ
ओर चले जिधर से यह शब्द सुनाई दिया था।

ज्योंही लक्ष्मणजी कुटी से बाहर हुए, त्योंही रावण भिखारी
भेष बना सीताजी के सामने आया और बलपूर्वक उन्हें अपने रथ
बैठा कर ले भागा। रोती और कलपती हुई परम दुःखिनी सी
चिह्न के लिए अपने गहनों को मार्ग में बराबर गिराती हुई चली गईं।

जब श्रीरामचन्द्र ने मृग पर बाण चलाया तब वह अपना क
रूप छोड़ राक्षस बनकर बाण की चोट से कराहता हुआ सुरधा
को सिधारा। यह देखकर श्रीरामचन्द्र को बड़ा विस्मय हुआ औ
वे घबराए हुए आश्रम की ओर झपटे चले आ रहे थे, कि उ
से घबराये हुए लक्ष्मण को भी अपनी ओर आते देख, उनके वि
में बड़ी शङ्का हुई कि क्या जानकी के ऊपर तो कोई विपत्ति नहीं
आई। लक्ष्मणजी से उनके आने का कारण सुनकर फिर दोनों
भाई लौटे और कुटी में जाकर उन दोनों ने देखा कि वहाँ सीत
नहीं है। यह देख दोनों बड़े ही घबराए और विशेष कर श्रीराम
चन्द्र तो बड़े विकल हुए पर लक्ष्मणजी के समझाने बुझाने पर वे
कुछ धीरज धर कर लक्ष्मण के साथ कुटी के आस पास सीताजी
को ढूँढ़ने लगे। खोजते खोजते कई स्थान पर गिरे हुए गहने मिले,
जिन्हें देख वे लोग भी उधर ही आगे की ओर बढ़ते चले गए।
कुछ दूर जाने पर उन्होंने अपने पिता के बन्धु जटायु को अधमरा
पड़ा पाया। वे दोनों उसके पास गए। तब उसने सीताहरण

ौर रावण से अपने युद्ध की कथा कह सुनाई और अन्त में वह ाणत्याग परलोक सिधारा। श्रीरामचन्द्र ने अपने हाथों से उसकी ाह-क्रिया की और फिर वे विलाप करते हुए लक्ष्मण के साथ ागे बढ़े। बड़े बड़े पर्वतों और गुफाओं में सीताजी को ढूँढ़ते ौर उनके लिये विलाप करते चले जाते थे, कि पथ में बड़े विशाल ाहु वाला कवन्ध नामक राक्षस मिला। तब श्रीरामचन्द्र उसे ड्ग से मार आगे जाते जाते पम्पापुर पर थोड़ा विश्राम कर ऋष्यमूक पर्वत पर पहुँचे। वहाँ बाली के भय से सुग्रीव अपने ाँच मन्त्रियों के साथ रहा करता था। उसने उन दोनों भाइयों ो बाली का गुप्तचर जानकर भयभीत हो हनुमानजी को भेद लेने े लिये भेजा। हनुमानजी जाकर श्रीराम और लक्ष्मण को सुग्रीव े पास लिवा लाए और बीच में अग्नि को रखकर दोनों (श्रीराम-चन्द्र और सुग्रीव) ने शपथ पूर्वक मित्रता की फिर श्रीरामचन्द्र ने बाली को मार सुग्रीव को राजा बनाने और सुग्रीव ने सीता की खोज लगाने की परस्पर प्रतिज्ञा की।

प्रतिज्ञा के अनुसार श्रीरामचन्द्र ने बाली को मार कर सुग्रीव को किष्किन्धा का राजा बनाया। और उसने भी अपने सम्पूर्ण बन्दरों को बुलाकर सीता के ढूँढ़ने के लिये आठों दिशाओं में उन्हें भेज दिया, तथा मुखिया मुखिया बन्दरों को जैसे अङ्गद, जाम्बवान् नल, नील और हनुमान को दक्षिण समुद्र के तट पर भेजा और वहाँ सम्पाती से अगहन की दशमी के दिन उन्हें सीता का सन्देसा मिला और द्वादशी के दिन सायङ्काल में मार्ग के सब विघ्नों को नाश कर सब साथियों को इसी पार छोड़कर अकेले हनुमानजी रामचन्द्र की दी हुई मुद्रिका (अँगूठी) ले समुद्रपार लङ्कापुरी में गए। और वहाँ पर वे अशोकवन में जानकीजी से भेंट कर लङ्का जला और रावण को धिक्कार कर चतुर्दशी के दिन अपने कटक में लौट

साथ और फिर उन्होंने सबके साथ आकर श्रीरामचन्द्र से सीताजी का सन्देसा कहा, तथा जानकीजी ने जो चिह्न स्वरूप अपना सीस फूल दिया था उसे देकर शीघ्र चढ़ाई करने की प्रार्थना की। तब श्रीरामचन्द्र ने अपने मित्र सुग्रीव और असंख्य वानर-दल को साथ ले शुभ मुहूर्त्त में अष्टमी के दिन दोपहर के समय यात्रा की और सातवें दिन वानरी सेना के साथ समुद्र के तट पर आकर डेरा डाला। तीन दिन तक समुद्र के तट पर टिके रहे। चतुर्थी की रात रावण का भाई विभीषण श्रीरामचन्द्र की शरण में आया। उन्होंने बड़े प्रेम और आदर से उसे बुलाकर अपना मित्र बनाया और अभय देकर लङ्का का राजा बनाने का वचन दिया। पञ्चमी के दिन श्रीरामचन्द्र समुद्र के पार जाने का विचार करने लगे फिर वानरों की सहायता से नल और नील ने समुद्र पर पुल बाँधा। यह पुल दस योजन चौड़ा और सौ योजन लम्बा था। उस पर से तीन दिन में वानरी सेना पार हुई और लङ्का के चारों ओर किलकिलाती और तर्जन गर्जन करती हुई घूमती रही, परन्तु कोई युद्ध न हुआ। इसी अवसर में शुक और शारण नाम के दो परम चतुर गुप्तचरों को रावण ने रामदल के देखने के लिये भेजा। उन दोनों को वानरों ने बाँध लिया और दुःख देना प्रारम्भ किया। तब श्रीरामचन्द्र ने दया करके उन्हें छुड़वा दिया। उन दूतों ने जाकर रावण से श्रीरामचन्द्र तथा उसके साथियों का पूरा पूरा वृत्तान्त कह सुनाया जिसे सुन उसकी रानी मन्दोदरी ने उसे बहुत कुछ समझाया परन्तु उस महा अभिमानी के चित्त पर मन्दोदरी के कहने का कुछ भी प्रभाव न हुआ, वरन् उसने श्रीरामचन्द्र से युद्ध करना निश्चय कर लिया।

इधर श्रीरामचन्द्र की आज्ञा पाकर युवराज अङ्गदजी रावण की सभा में गए और सीता जी को लौटा देने के लिये राजनीति

अनुसार उन्होंने रावण को बहुत कुछ समझाया पर उसके म
एक न आया। अन्त में अङ्गदजी यह कह लौट आए कि अब ते
परिवार के सहित कराल काल तेरी बाट देख रहा है।

अङ्गद के लौट आने पर युद्ध प्रारम्भ हुआ, जिसमें रावण
बड़े बड़े वीर योद्धा तथा कुम्भकरण सा भाई, इन्द्रजीत सा पु
और असंख्य बेटे पोते मारे गए। किन्तु इतने पर भी उस अभि
मानी का गर्व न टूटा। राम और रावण का ऐसा घोर युद्ध हुअ
था कि जिसकी इस जगत् में दूसरी उपमा ही नहीं है। ज
रावण के सारे कुल का नाश हो गया तब श्रीरामचन्द्र ने उ
महाबली को भी मार गिराया।

माघ शुक्ल द्वितीया से लेकर चैत्र शुक्ल चतुर्दशी पर्यन्त यु
हुआ और इस बीच में केवल पन्द्रह दिन युद्ध रुका रहा, अर्था
केवल बहत्तर दिन लगातार युद्ध होता रहा।

रावण के मारने पर विभीषण ने उसकी अन्तिम संस्क
किया की और पीछे श्रीरामचन्द्र की आज्ञा से बड़ी धूम धाम
साथ लक्ष्मण जी ने लङ्का में जाकर विभीषण का राज्याभिषे
किया। फिर वह जानकी जी को अशोक वन से श्रीरामचन्द्र
पास ले आया। चौदह महीने दस दिन जानकीजी रावण
यहाँ रही थीं, इसलिए श्रीरामचन्द्र ने अग्नि में उनकी परीक्षा लेक
उन्हें ग्रहण किया। बहुत दिनों के पीछे राम और सीता ने ए
दूसरे को देखा दोनों के चित्त में आनन्द का समुद्र उमड़ आय
फिर सीता, लक्ष्मण, हनुमान, विभीषण और सुग्रीव आदि
सङ्ग ले तथा पुष्पक विमान पर चढ़ कर चौदह वर्ष के उपरा
श्रीरामचन्द्र अयोध्या की ओर चले।

लौटते समय पथ में श्रीरामचन्द्र जानकी जी को वन, पर्व
नद नदी और अपने बनाए हुए सेतु आदि स्थानों को दिख

तथा जहाँ जहाँ जो जो कुछ हुआ था उसे परस्पर कहते सुन
बड़े आनन्द से चले आते थे। तीन दिन में वह विमान अयोध्या
पास पहुँचा तब श्रीरामचन्द्र की आज्ञा से हनुमान जी ने जा
भरत जी से श्रीरामचन्द्र के आने का समाचार कहा ; जिसे सु
कर भरत, वशिष्ठ और माता आदि परिवार तथा प्रजावर्ग
साथ चौदह वर्ष के बिछुड़े हुए भाई से मिलने के लिये च
जिस समय चारों भाई परस्पर गले मिले थे, उस समय की शो
बड़ी ही अनोखी थी। श्रीरामचन्द्र बड़े आदर प्रेम के साथ कै
आदि माता तथा आप्त हुए सब लोगों से मिले, और सु
अङ्गद, हनुमान, और विभीषण आदि के सब से मिला कर उ
बड़ी बड़ाई करने लगे। फिर सब लोग अयोध्यापुरी में पहुँचे

भरत जी ने गुरु वशिष्ठ की आज्ञा से शुभ मुहूर्त में श्रीरा
चन्द्र का राज्याभिषेक किया। राजसिंहासन पर बैठने के स
महाराज श्रीरामचन्द्र की अवस्था बयालीस वर्ष और सीता
का वयःक्रम तैंतीस वर्ष का था। श्रीरामचन्द्र तो राजा हुए
भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न उनके परम आज्ञाकारी और सदा से
में तत्पर रहकर अमात्य का कार्य करने लगे।

जिस समय सीता जी सात महीने की गर्भवती थीं,
समय एक सामान्य प्रजा के लोकापवाद को सुनकर श्रीराम
ने लक्ष्मण को आज्ञा दी कि इसको रथ पर बैठाकर वन में
आओ। बड़े भाई की आज्ञा मानकर वे रोती और विलपि
हुई जानकी को महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में छोड़ आए। सी
को रोते और विलाप करते देख वाल्मीकि बड़े आदर से
अपने आश्रम में लिवा लाए और अपनी कन्या की भाँति
लगे। ठीक समय पर सीता के दो पुत्र हुए, वाल्मीकि ने
... और कुश रक्खा और बड़े प्रेम से उन बालकों का

किया और जब वे स्याने हुए तो वाल्मीकि ने उन्हें शस्त्र शास्त्र की विलक्षण शिक्षा देकर राजकुमार कहलाने के योग्य दिया।

वाल्मीकि जी यह विचार ही रहे थे कि इन राजकुमारों को र इनके पिता से मिलावें कि संयोग से एक दूत ने आकर हाथ में निमन्त्रण पत्र दिया। उसमें श्रीरामचन्द्र ने लिखा कि नैमिषारण्य में हम यज्ञ कर रहे हैं। इसलिए आप अपने वर्गों के साथ यहाँ पधारिए। उस पत्र को पाकर वाल्मीकि बड़े हर्ष के साथ अपने शिष्यों तथा लव और कुश को सङ्ग ले में जाने को प्रस्तुत हुए। सीता जी ने जब सुना कि श्रीराम- यज्ञ कर रहे हैं तब उन्हें इस बात के जानने की बड़ी उत्कण्ठा कि बिना पत्नी के मेरे पति ने क्योंकर यज्ञ को आरम्भ किया? सन्देह को मिटाने के लिए वाल्मीकिजी ने पत्र वाले दूत से ; जिसके उत्तर में उसने कहा कि "गुरु वशिष्ठ ने श्रीरामचन्द्र दूसरा विवाह करने के लिये बहुत कुछ कहा था, किन्तु उस अरुचि दिखलाकर वे बोले कि हमसे ऐसा न होगा।" तब षियों की आज्ञा से एक सोने की सीता बनवाकर उन्होंने यज्ञ रम्भ किया है।

लव और कुश तथा और और शिष्यों को लेकर महर्षि ल्मीकि यज्ञशाला में पहुँचे। पहिले ही से उन्होंने लव और कुश अपनी बनाई हुई रामायण के गाने में अत्यन्त निपुण कर दिया । वहाँ जाकर उन दोनों बालकों को आज्ञा दी कि आप हुए जों और ऋषियों के डेरों पर जा जाकर तुम लोग रामायण को पा करो। यदि महाराज श्रीरामचन्द्र तुम लोगों को बुलावें और म्हारा गान सुनकर तुम्हें धन आदि पारितोषिक दें तो विनीत

भाव से कहना कि हम लोग धन लेकर क्या करेंगे क्योंकि
लोग तो वन में रहते और फल मूल से अपना निर्वाह करते हैं।

ऋषि की आज्ञा से लव और कुश रामायण का गान क
फिरते थे, जिसे सुनकर लोग बड़े ही प्रसन्न हुए। धीरे ध
श्रीरामचन्द्र के कानों तक उनकी प्रशंसा पहुँची। उन्होंने भी
दोनों बालकों को बुला भेजा। जब सभा में दोनों बालक पहुँचे
उन्हें देखते ही श्रीरामचन्द्र के चित्त का विचित्र भाव हो गय
उन्होंने उन बालकों को गाने के लिए तो कहा, परन्तु बार
उनके चित्त में यही भाव उठने लगा कि मानों ये दोनों बालक
ही आत्मज हैं। इसी विचार में उनका चित्त ऐसा विकल हुआ
वे भली भाँति से उन बालकों का गान भी न सुन सके इस
उस दिन तो उन्होंने बालकों को यह कहकर विदा किया कि स
प्रातःकाल पुनः आकर गान प्रारम्भ करना।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही से गान सुनने के लिए राजस
में बड़ी ही भीड़ इकट्ठी हुई। परन्तु प्रबन्ध ऐसा उत्तम था
किसी को भी कुछ कष्ट न पहुँचा। एक ओर कौशल्या आदि रि
एक ओर निमन्त्रित राजा लोग; एक ओर प्रजावर्ग और
ओर ऋषिगण बैठे। गान आरम्भ हुआ। वाल्मीकिजी की आ
से उन बालकों ने श्रीराम और जानकी के प्रेम की कथा अ
और ऐसी उत्तम रीति से उसे गाया कि जिसे सुनकर सारी स
मोहित हो गई और कौशल्या के हृदय में उन बालकों के प्र
ऐसा स्नेह उमड़ा कि उन्होंने लक्ष्मणजी से कह कर युक्तिपू
दोनों बालकों को बुला अपनी गोद में बैठा लिया और उन
परिचय पूछना प्रारम्भ किया। परन्तु वे इसके अतिरिक्त और कु
भी न कह सके कि हम वाल्मीकि ऋषि के शिष्य हैं और उन्हीं
आश्रम में रहते हैं। तब कौशल्या ने वाल्मीकिजी को बुलवा

ा। फिर तो वाल्मीकिजी ने लव और कुश की सारी कथा कह
ाई और श्रीरामचन्द्र से यों कहा कि फिर से सीता को ग्रहण
ी। इस पर उन्होंने उत्तर दिया कि यहाँ हमारी प्रजायें इकट्ठी
, यदि वे कहेंगी तो हम अवश्य सीता को ग्रहण कर लेंगे।
ना सुन कर वाल्मीकिजी ने सीताजी को अपने आश्रम से बुला
या और उनके आने पर श्रीरामचन्द्र जी ने प्रजा-मण्डली को
त्र करके कहा कि यदि आप लोगों को कोई आपत्ति न हो तो
सीता को ग्रहण करूँ। इस पर प्रायः सब प्रजाओं ने हर्ष से
नकी बात मानी, केवल थोड़े से लोग चुप रहे। यह देखकर
रे मोह और दुःख के श्रीरामचन्द्र मूर्छित होकर गिर पड़े और
ानकीजी ने रोकर पृथ्वी से कहा कि हे माता वसुन्धरा! अब तू
ट जा और तुझमें मैं समा जाऊँ। उनकी आर्त्तवाणी सुनकर
थ्वी फट गई और वे उसमें समा गईं। थोड़े दिनों के उपरान्त
व और कुश को राज्य देकर अपने बन्धु बान्धवों तथा प्रजावर्गों
साथ महाराज श्रीरामचन्द्र परम धाम को पधारे।

—कार्तिकप्रसाद
(वाल्मीकि रामायण के आधार पर)

९—कर्तव्य और सत्यता

(सन् १९८०)

कर्तव्य वह वस्तु है जिसे करना हम लोगों का परम धर्म है
ौर जिसके न करने से हम लोग और लोगों की दृष्टि से गिर
ते और अपने कुचरित्र से नीच बन जाते हैं। प्रारम्भिक अवस्था
कर्तव्य का करना बिना बलात्कार के नहीं हो सकता, क्योंकि
ाम प्रथम मन आपही उसे करना नहीं चाहता। इसका आरम्भ

हारा मन किसी काम के करने से हिचकिचाये और दूर भागे कभी तुम उस काम को न करो। तुम्हें अपने धर्म-पालन करने बहुधा कष्ट उठाना पड़ेगा; पर इससे तुम अपना साहस न ड़ो। क्या हुआ जो तुम्हारे पड़ोसी ठग-विद्या और असत्यपरता बेईमानी) से धनाढ्य हो गये और तुम कङ्गाल ही रह गये? या हुआ जो दूसरे लोगों ने झूठी चाटुकारी (खुशामद) करके ही बड़ी नौकरियाँ पा लीं और तुम्हें कुछ न मिला? और क्या या जो दूसरे नीच कर्म करके सुख भोगते हैं और तुम सदा कष्ट रहते हो? तुम अपने कर्तव्य धर्म को कभी न छोड़ो और देखो ससे बढ़कर सन्तोष और आदर क्या हो सकता है? कि तुम अपने र्म का पालन कर सकते हो।

हम लोगों का जीवन सदा अनेक कार्यों में व्यग्र रहता है। म लोगों को सदा काम करते ही बीतता है। इसलिए हम लोगों ो इस बात पर पूरा ध्यान रखना चाहिए कि हम लोग सदा पने धर्म के अनुसार काम करें और कभी उसके पथ पर से न टें; चाहे उसके करने में हमारे प्राण भी चले जायँ तो कोई चिन्ता नहीं।

धर्म पालन करने के मार्ग में सब से अधिक बाधा चित्त की चञ्चलता, उद्देश की अस्थिरता और मन की निर्बलता से पहुँचती है। मनुष्य के कर्तव्य-मार्ग में एक ओर तो आत्मा के भले और कामों का ज्ञान, और दूसरी ओर आलस्य और स्वार्थपरता रहती है। बस, मनुष्य इन्हीं दोनों के बीच में पड़ा रहता है और अन्त में यदि उसका मन पक्का हुआ तो वह आत्मा की आज्ञा मान कर अपने धर्म का पालन करता है और यदि उसका मन कुछ काल तक दुविधा में पड़ा रहा तो स्वार्थपरता निश्चय उसे आ घेरेगी और उसका चरित्र घृणा के योग्य हो जायगा। इसलिए यह बहुत

ावश्यक है कि आत्मा जिस बात के करने की प्रवृत्ति दे
रना अपना स्वार्थ सोचे झटपट कर डालना चाहिए। ऐसा
करते जब धर्म करने की बान पड़ जायगी तो फिर किसी बा
ा भय न रहेगा। देखो इस संसार में जितने बड़े बड़े लो
गये हैं, जिन्होंने कि संसार का उपकार किया है और उसके
आदर और सत्कार पाया है, उन सभों ने अपने कर्तव्य के सब
श्रेष्ठ माना है। क्योंकि जितने कर्म उन्होंने किये उन सभों में क
कर्तव्य पर ध्यान देकर न्याय का बर्ताव किया जिन जातियों में
गुण पाया जाता है वेही संसार में उन्नति करती हैं और संस
में उनका नाम आदर के साथ लिया जाता है। एक समय किस
अङ्गरेजी जहाज़ में जब कि वह बीच समुद्र में था एक छेद
गया। उस पर बहुत सी स्त्रियाँ और पुरुष थे। उसके बचाने क
पूरा पूरा उद्योग किया गया; पर जब कोई उपाय सफल न हु
तो जितनी स्त्रियाँ इस पर थी सब नावों पर चढ़ा कर बिदा क
दी गईं, और जितने मनुष्य उस पोत पर बच गये थे, उन्हों
उसकी छत पर इकट्ठे होकर ईश्वर को धन्यवाद दिया कि वे य
तक अपना कर्तव्य पालन कर सके और स्त्रियों को प्राण-रक्षा
सहायक हो सके। निदान इसी प्रकार ईश्वर की प्रार्थना कर
करते उस पोत में पानी भर आया। और वह डूब गया, पर
लोग अपने स्थान पर ज्यों के त्यों खड़े रहे और उन्होंने अपने प्रा
बचाने का कोई उद्योग न किया। इसका कारण यह था कि य
ये अपने प्राण बचाने का उद्योग करते तो स्त्रियाँ और बच्चे न ब
सकते। इसीलिए उस पोत के लोगों ने अपना धर्म यहीं समझा
अपने प्राण देकर स्त्रियों और बच्चों के प्राण बचाने चाहिए। इ
के विरुद्ध फ्रान्स देश के रहनेवालों ने एक डूबते हुए जहाज़ पर
अपने प्राण तो बचाये, किन्तु उस पोत पर जितनी स्त्रियाँ

थे थे उन सभों के उन्ही पर छोड़ दिया। इस नीच कर्म की
ारे संसार में निन्दा हुई। इसी प्रकार जो स्वार्थी होकर अपने
र्तव्य पर ध्यान नहीं देते, वे संसार में लज्जित होते हैं और सब
ोग उनसे घृणा करते हैं।

कर्तव्य-पालन से और सत्यता से बड़ा घना सम्बन्ध है और
ो मनुष्य अपना कर्तव्य-पालन करता है वह अपने कामों और
चनों से सत्यता का बर्ताव भी रखता है। वह ठीक समय पर
चित रीति से अच्छे कामों को करता है। सत्यता ही एक ऐसा
स्तु है जिससे इस संसार में मनुष्य अपने कार्य्यों में सफलता पा
सकता है क्योंकि संसार में कोई काम झूठ बोलने से नहीं चल
सकता। यदि किसी घर के सब लोग झूठ बोलने लगें तो उसी
घर में कोई काम न हो सकेगा और सब लोग बड़ा दुःख भोगेंगे।
इसलिए हम लोगों को अपने कार्यों में झूठ का कभी बर्ताव नहीं
करना चाहिए। अतएव सत्यता को सबसे ऊँचा स्थान देना उचित
है। संसार में जितने पाप हैं झूठ उन सभों से बुरा है। झूठ की
उत्पत्ति पाप, कुटिलता और कादरता के कारण होती है। बहुत से
लोग सचाई का इतना थोड़ा ध्यान रखते हैं कि अपने सेवकों को
स्वयं झूठ बोलना सिखाते हैं। पर उनको इस बात पर आश्चर्य
करना और क्रुद्ध होना न चाहिए जब कि नौकर भी उनसे अपने
लिए झूठ बोले।

बहुत से लोग झूठ को रक्षा नीति और आवश्यकता के
बहाने करते हैं। वे कहते हैं कि इस समय इस बात के प्रकाशित
न करना और दूसरी बात को बना कर कहना नीति के अनुसार,
समयानुकूल और परम आवश्यक है। फिर बहुत से लोग किसी
बात को सत्य सत्य कहते हैं, पर उसे इस प्रकार से घुमा फिरा
कर कहते हैं कि जिससे सुननेवाला यही समझे कि यह बात सत्य

नहीं है, वरन् इसका उलटा सत्य होगा। इस प्रकार से बातों
कहना झूठ बोलने के पाप से किसी प्रकार भी कम नहीं।

संसार में बहुत से ऐसे भी नीच और कुत्सित लोग होते
जो झूठ बोलने में अपनी चतुराई समझते हैं और सत्य को छि
कर धोखा देने वा झूठ बोलकर अपने को बचा लेने में ही अपन
परम गौरव मानते हैं। ऐसे लोग ही समाज को नष्ट करके दु
और सन्ताप के फैलाने में मुख्य कारण होते हैं। इस प्रकार
झूठ बोलना स्पष्ट झूठ बोलने से अधिक निन्दित और कुत्सि
कर्म है।

झूठ बोलना और भी कई रूपों में दीख पड़ता है। जैसे
रहना, किसी बात को बढ़ा कर कहना, किसी बात को छिपा
भेष बदलना, झूठ मूठ दूसरों के साथ हाँ में हाँ मिलाना, प्रति
करके उसे पूरा न करना और सत्य को न बोलना इत्यादि। जब
ऐसा करना धर्म के विरुद्ध है, तो ये सब बातें झूठ बोलने से कि
प्रकार कम नहीं हैं। फिर ऐसे लोग भी होते हैं जो मुँह—
बातें बनाया करते हैं, परन्तु करते वे ही काम हैं जोकि उन्हें
है। ऐसे लोग मन में समझते हैं कि कैसा सबको मूर्ख बना
हमने अपना काम कर लिया, पर वास्तव में वे अपने को ही
बनाते हैं और अन्त में उनकी पोल खुल जाने पर समा
सब लोग घृणा करते और उनसे बात करना अपना अप
समझते हैं।

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो अपने मन में किसी गुण
न रहने पर भी गुणवान् बनना चाहते हैं। जैसे यदि कोई
कविता करना न जानता हो, पर वह अपना ढंग ऐसा बनाये
जिससे लोग समझें कि यह कविता करना जानता है, तो
वि... के आडम्बर रखनेवाला मनुष्य झूठा है, और फिर

भेद का निर्वाह पूरा रीति से न कर सकने पर दुःख सहता
र अन्त में भेद खुल जाने पर सब लोगों की आँखों में झूठा
नीच गिना जाता है। परन्तु जो मनुष्य सत्य बोलता है वह
वर से दूर भागता है और उसे दिखावा नहीं रुचता। उसे
सी में बड़ा सन्तोष और आनन्द होता है कि सत्यता के साथ
अपना कर्तव्य-पालन कर सकता है।

इसलिए हम सब लोगों का यह परम धर्म है कि सत्य बोलने
सबसे श्रेष्ठ मानें और कभी झूठ न बोलें, चाहे उससे कितनी
अधिक हानि क्यों न होती हो। सत्य बोलने ही से समाज में
रा सम्मान हो सकेगा और हम आनन्द-पूर्वक अपना समय
सकेंगे। क्योंकि सच को सब कोई चाहते और झूठे से सभी
करते हैं। यदि हम सदा सत्य बोलना अपना धर्म मानेंगे तो
अपने कर्तव्य के पालन करने में कुछ भी कष्ट न होगा और
ा किसी परिश्रम और कष्ट के हम अपने मन में सदा सन्तुष्ट
र सुखी बने रहेंगे।

—श्यामसुन्दरदास

('स्माइल्स' के आधार पर)

१०—नल का दुस्तर दूत-कार्य्य

(सन् १९१२)

प्राचीन समय में भारत का अधिकतर वह अंश, जिसे आज
ल कुमायूँ कहते हैं, निषध-देश के नाम से प्रसिद्ध था। अलका
नकी राजधानी थी। उसमें वीरसेन का पुत्र नल नामक एक
ड़ा प्रतापी राजा राज्य करता था।

नल, एक दिन, मृगया के लिए राजधानी से बाहर निकला
आखेट करते करते वह अकेला दूर तक अरण्य में निकल गया
वहाँ उसने एक बड़ा ही मनोहर जलाशय देखा। उसके तट
एक अलौकिक रङ्ग-रूपधारी हँस, थक जाने के कारण आँखें
किये बैठा आराम कर रहा था। नल की दृष्टि उस पर पड़ी
चुपचाप, दबे पैरों जाकर राजा ने उसे पकड़ लिया। हँस
विचरण-स्वातन्त्र जाता रहा। पराधीनता के दुःख और अपनी
तथा माता के वियोग-जन्य ताप की चिन्ता से वह व्याकुल
उठा। उसने बहुत विलाप किया। मुक्तिदान देने के लिए
से उसने प्रार्थना भी की और एक तुच्छ पक्षी पर अनुचित ब
प्रयोग करने के लिए उसकी भर्त्सना भी की। राजा को
आई। उसने उस हँस को छोड़ दिया।

हँस इस पर बहुत प्रसन्न हुआ। उसने कहा, मैं एक अन
धारण पक्षी हूँ। आपने मुझे छोड़ दिया, इसका मैं प्रत्युप
करना चाहता हूँ। आप अभी तक अविवाहित हैं। अतएव
के सदृश अलौकिक सुन्दरी दमयन्ती को आप पर अनुरक्त
की मैं चेष्टा करूँगा। आपका कल्याण हो। मैं चला, अपने उद्योग
सफलता का सम्वाद सुनाने के लिए शीघ्र ही मैं लौटकर
दर्शन करूँगा।

नल से विदा होकर हंस ने विदर्भ देश आधुनिक बर
ली। वहाँ के राजा भीम की कन्या दमयन्ती उस समय त्रि
में एक ही सुन्दरी थी। उसको रूपराशि का वर्णन करके
नल को दमयन्ती पर अनुरक्त किया था। अब उसे दमयन्ती
ल पर अनुरक्त करना था। आकाश मार्ग से हंस शीघ्र ही
र्भ की राजधानी कुण्डिनपुर पहुँचा। दमयन्ती उस समय
क्रीडाउद्यान में सखियों के साथ खेल रही थी। हंस मनु

ली बोलना जानता था। एकान्त में नल के सौन्दर्य, बल, वैभव और पराक्रम आदि का वर्णन दमयन्ती को सुनाकर हंस ने उसे नल के प्रेम पाश में फाँस लिया। यही नहीं, किन्तु उसने दमयन्ती से यह वचन तक ले लिया कि मर चाहे जाउँ, पर नल को छोड़ कर और किसी से विवाह न करूँगी।

यह सुख-समाचार नल को सुना कर हंस अपने आवास को गया।

इधर नल की चिन्तना ने दमयन्ती को अतिशय सन्तप्त कर दिया। एक दिन विरह-व्यथा से अत्यन्त व्यथित होकर वह मूर्छित हो गई। पिता भीम उसके पास दौड़े आये। कन्या की दशा देख कर उसके सन्तापका कारण वे ताड़ गये। उन्होंने शीघ्रही उसका विवाह कर डालना चाहा। स्वयम्वर की तिथि निश्चित हुई।

स्वयम्वर में शरीक होने के लिए देश देश के नरेश चले। नल ने भी अलका से कुण्डिनपुर के लिए प्रस्थान किया। उधर स्वयम्वर का समाचार और भैमी का सौन्दर्य वर्णन नारद से सुन कर, उसे पाने की इच्छा से, इन्द्र ने भी देवलोक से प्रस्थान किया। उसके पीछे यम, वरुण और अग्नि भी चले। मार्ग में उन चारों की भेंट नल से हुई। नल की भुवनातिव्यापिनी सुन्दरता देखकर उन देवताओं के होश उड़ गये। उन्होंने इस बात को निश्चित समझा कि नल के होते दमयन्ती कदापि उनके कण्ठ में वरमाला न पहनायेगी। अतएव कपट कौशल को ठहरो। नल की दानशूरता आदि की प्रशंसा करके इन्द्र महाराज नल के याचक बने। आपने नल से यह याचना की कि तुम हमारे दूत बनकर दमयन्ती के पास जाव और हमारी तरफ से ऐसी विकालत करो जिसमें वह हमीं चारों में से किसी एक को अपना पति बनावे। इस प्रार्थना पर नल को

महा दुःख हुआ। उसे क्रोध भी हो आया। उसने इन्द्रादि के [illegible] कार्य्य की बड़ी गर्हणा की। अपना सच्चा हाल भी उसने [illegible] सुनाया। सङ्कल्पद्वारा मुझे ही दमयन्ती अपना पति बना चुकी है, यह भी नल ने साफ़ साफ़ कह दिया। भीम भूपाल के अन्तःपुर में दूत बन कर जाने की असम्भवता का भी नल ने उल्लेख किया। पर इन्द्र ने एक न मानी उचित-अनुचित का उस समय उसे [illegible] भी ध्यान न रहा। फिर उसने नल की चाटुकारिता आरम्भ की। आजिज़ आकर नल ने इन्द्रादि देवताओं का दूत बनकर दमयन्ती के पास जाना स्वीकार कर लिया। इन्द्र ने नल को एक ऐसी विद्या सिखला दी जिसके प्रभाव से, इच्छा करने पर, वह और लोगों की दृष्टि से अदृश्य हो सके; पर वह सब को देखता रहे। नल, इस तरह, इधर दूत बन कर कुण्डिनपुर पहुँचा। उधर पूर्वोक्त चारों दिक्पालों ने पृथक् पृथक् अपनी दूतियाँ भी दमयन्ती के पास उसे अपनी ओर अनुरक्त करने के लिए, भेजीं। इतने छल-कपट और प्रयत्न को काफ़ी न समझ कर उन्होंने दमयन्ती के पिता को बहुत कुछ घूस भी दिया। सब ने अद्भुत अद्भुत उपायन राजा भीम को भेजे।

नल ने अपना रथ, अपने अनुचर और अपना असबाब [illegible] कुण्डिनपुर के बाहर ही छोड़ा। दिक्पालों की स्वार्थपरता और निर्लज्जता को धिक्कारते हुए उसने नगर में प्रवेश किया। [illegible] करके वह राजप्रासाद के पास पहुँचा। धीरे धीरे वह उसके भीतर घुसा। इन्द्रदत्त तिरस्कारिणी विद्या के प्रभाव से उसे किसी ने [illegible] देखा। घूमते घामते वह दमयन्ती के महल में दाखिल हुआ [illegible] किसी को अपनी स्थितिस्थान की ओर मुख किये देख वह डर [illegible] कि कहीं मैं देख तो नहीं लिया गया। इस प्रकार अन्तःपुर की [illegible] करते हुए वह दमयन्ती के सम्मुख उपस्थित हुआ। उसके [illegible]

माधुर्य्य की शोभा देखते वह देर तक वहाँ खड़ा रहा। उसने सब को देखा; उसे कोई न देख सका। तदनन्तर समय अनुकूल देख, अङ्गीकृत दूतत्व निर्वाह के इरादे से, वह प्रकट हो गया। इसके बाद वहाँ जो कुछ हुआ उसके वर्णन में श्रीहर्ष ने अपने नैषध-चरित में अपूर्व कवित्वकौशल दिखाया है। उसीका भावार्थ संक्षेप में, आगे दिया जाता है।

पाठकों को स्मरण रखना चाहिए कि नल और दमयन्ती दोनों, पहले ही से, एक दूसरे पर, अनुरक्त थे। तिस पर भी नल ने याचक इन्द्र की याञ्चा को विफल कर देना अपने वंश के विरुद्ध समझा। अतएव उसने दूत बनना स्वीकार कर लिया। नल के चरित्रदार्ढ्य, साहस और स्वार्थत्याग का यह अद्भुत उदाहरण है। अब, इस समय, ये दोनों प्रेमी एक दूसरे के सामने हैं। नल से तो कोई बात छिपी नहीं; पर दमयन्ती को इसका अत्यल्प भी ज्ञान नहीं कि यह कौन है। इससे इस घटना की महत्ता बहुत बढ़ गई है। इसमें एक अनिर्वचनीय रस उत्पन्न हो गया है। अस्तु।

नल के अकस्मात् प्रकट होने पर दमयन्ती और उसकी सहेलियों ने उसे इस अनिमेष-भाव से देखा मानों वे उसे दृष्टि द्वारा पी जाना चाहती हैं। नल को इस तरह कुछ देर तक देख चुकने पर किसी किसी कामिनी ने लाज से सिर नीचा कर लिया और किसी किसीने उसे प्रत्यक्ष मन्मथ समझकर विस्मय की पराकाष्ठा के पार प्रयाण किया। किसीको इस बात के पूछने का साहस न हुआ कि—आप कौन हैं? और कहाँ से आये हैं? नल के अपूर्व रूप और आकस्मिक प्रादुर्भाव ने उन्हें अप्रतिभ कर दिया। उनसे उस समय केवल यही बन पड़ा कि, अभ्युत्थान की वाञ्छा से, अपने अपने आसनों से वे उठ खड़ी हुईं। नल के सन्दर्शन से दमयन्ती को

वैसाही परमानन्द प्राप्त हुआ जैसा कि, वर्षाकाल आने पर, पर्व
से निकली हुई नदी के मेघों के धारासार में प्राप्त होता है।

नल के प्रत्येक अङ्ग की सुन्दरता का मन ही मन अभिनन्द
करके दमयन्ती के हृदय में जिन भावों का उदय हुआ उनका वर्ण
करने में केवल महाकवि ही समर्थ हो सकते हैं। दमयन्ती ने देख
कि उसकी सारी सहेलियाँ कुण्ठित-कण्ठ हो रही हैं। उनके मु
मण्डलों पर आतङ्क छाया हुआ है। अतएव वे दमयन्ती की तरफ़
उस आगन्तुक पुरुष से कुशल प्रश्न करने में असमर्थ हैं। लाचा
नम्र-मुखी दमयन्ती स्वयं ही नल से इस गद्गद्-भाव-पूर्ण वा
बोली :—

"आचारवेत्ता महात्माओं ने यह नियम कर दिया है कि अतिथि
आने पर यदि और कुछ न बन पड़े तो प्रेमपूर्ण अक्षरों की र
धारा ही मधुपर्क बनाना चाहिए। अभ्यागत की तृप्ति के लि
अपनी आत्मा को भी तृणवत् समझना चाहिए। और, यदि उ
समय पाद्य और अर्घ्य के लिए जल न मिल सके तो आनन्दाश्रु
से ही उस विधि का सम्पादन करना चाहिए। आपका दर्शन ही
ही मैं अपना जो आसन छोड़कर खड़ी हो गई वह यथार्थ में आप
बैठने योग्य नहीं; तथापि, मेरी प्रार्थना पर बहुत नहीं तो क्षण
भर के लिए, कृपापूर्वक, आप उसे अलंकृत करें। यदि आपक
इच्छा और कहीं जाने की हो तो भी, मेरे अनुरोध से, आप मे
इस विनती को मान लेने की उदारता दिखावें। आपके ये पद-
शिरीषकलिकाओं की मृदुता का भी अभिमान चूर्ण करने वाले है
यह तो आप बताइए कि आपका निर्दय हृदय कब तक इन्हें इ
तरह खड़े रखकर क्लेशित करना चाहता है। वसन्त बीत जाने प
जो उपवनों की होती है वही दशा आपने किस देश की क

ी ? आपके मुख से उच्चारण किये जाने के कारण कृतार्थ होने आपके नाम के अक्षर सुनने के लिये मैं उत्सुक हो रही हूँ। दर्शनों से सारे संसार को तृप्त करने वाले आप जैसे पीयूष-व (चन्द्रमा) को उत्पन्न करने किस वंश ने समुद्र के साथ ी करने का बीड़ा उठाया है ? उस वंश का यह उद्योग सर्वथा य और उचित है। इस दुष्प्रवेश्य अन्तःपुर में आपके प्रवेश को हासागर को पार कर जाना समझती हूँ। मेरी समझ में नहीं ा कि इतने बड़े साहस का कारण क्या है ? और इसका फल भी हो सकता है ? आपके इस सुरक्षित अन्तःपुर प्रवेश को पने नेत्रों के कृतपुण्य का फल समझती हूँ। आपकी आकृति था भुवन-मोहिनी है। द्वारपालों को अन्धा कर डालने की आप में बड़ी अद्भुत है। आपकी शरीर कान्ति भी महा अलौ-क है। इससे जान पड़ता है कि आप कोई दिव्य पुरुष, अर्थात् ता, हैं। मन्मथ आप नहीं हो सकते ; क्योंकि वह मूर्तिहीन है। वनीकुमार भी आप नहीं हो सकते ; क्योंकि वे कभी अद्वितीय देखे गये। यदि आप मनुष्य हैं तो यह पृथ्वी कृतार्थ है। यदि देवता हैं तो देवलोक की प्रशंसा नहीं हो सकती। यदि पने अपने जन्म से नाग-वंश को अलंकृत किया है तो नीचे, र्थात् पाताल में, होने पर भी वह सब लोगों के ऊपर समझा ने योग्य है। इस भूमण्डल में किस मनुष्य ने इतना अधिक य किया है जिसे कृतकृत्य करने के उद्देश से आप अपने पैरों चलने का कष्ट दे रहे हैं ? इस प्रकार के न मालूम कितने सन्देह चित्त में उत्पन्न हो रहे हैं। अतएव आप अधिक देर तक मुझे न्देह-सागर में न डुबोइए। बतला दीजिए कि किस धन्य के प अतिथि हैं। आपके सुन्दर रूप का दर्शन करके मेरी दृष्टि ने अपने जन्म का फल पा लिया। यदि आप अपने मुख से अब

कुछ कहने की कृपा करें तो मेरे कानों को भी सुधारस के
दन का आनन्द मिल जाय।"

दमयन्ती के मुख से इस तरह,शहद के समान मीठी
सुनने से नल का अजीब हाल हुआ। स्तुति ऐसी चीज़ है जो
के मुँह से भी मीठी मालूम होती है। फिर प्राणोपम कि
मुँह से उसके मिठास का कहना ही क्या है।

नल ने स्वयं दमयन्ती के आसन पर बैठना तो उचि
समझा; पर, दमयन्ती की प्रार्थना पर, उसकी सखी के आस
वह बैठ गया। इस समय नल के हृद्गत धैर्य और मनोभव
ठन गया। जीत धैर्य ही की हुई। मनोभव ने हार खाई।
एक न चली। विकारों की उत्पादक प्रबल सामग्री के उपस्थि
पर भी यदि महात्माओं का मन कलुषित हो जाय तो फि
महात्मा ही कैसे ?

दमयन्ती ने नल से जो प्रश्न किये उन में से एक को
और सब प्रश्न नल हज़म कर गये। आपने अपनी कथा आ
इस प्रकार किया :—

मैं दिशाओं के अधिपतियों की सभा से तुम्हारे हाँ
अतिथि होकर आया हूँ। साथ ही अपने प्रभुओं के सन्देश
आदर के साथ, अपने हृदय में प्राणों की तरह धारण करके
हूँ। मेरा आतिथ्य-सत्कार हो चुका। बस, अब और अधिक
श्रम करने की आवश्यकता नहीं। बैठ क्यों नहीं जातीं ?
क्यों छोड़ दिया ? दूत बन कर मैं जिस काम के लिए आया हूँ
दि तुम सफल कर दोगी तो मैं उसीको अपना बहुत
तिथ्य समझूँगा। हे कल्याणि ! चित्त तो तुम्हारा प्रसन्न

तो तुम्हारा सुखी है? विलम्ब करने का यह समय नहीं; जो कुछ मैं निवेदन करने जाता हूँ उसे कृपा करके सुनो। निवेदन यह है:—

जब से तुम्हारी कुमारावस्था का आरम्भ हुआ तभी से तुम्हारे ने इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर के हृदय पर अधिकार कर लिया तुम्हारे शैशव और यौवन की सन्धि से सम्बन्ध रखनेवाली का विचार करके इन दिक्पालों का चित्त प्रतिदिन अधिका- खिन्न हो रहा है। दो राजाओं के राज्य में जो दशा प्रजा को है वही दशा इस समय इन देवताओं की हो रही है।

मैं तुमसे इन्द्र का क्या हाल बयान करूँ। सूर्य जिस समय पूर्व में उदित होता है उस समय उसका बिम्ब वैसाही अरुण है जैसा कि चन्द्रमा का। तुम्हारे वियोग में महेन्द्र सूर्य को सदृशता के कारण, चन्द्रमा समझ कर अत्यन्त क्रोध-पूर्ण से देखता है। किसका अपराध और किस पर क्रोध! परन्तु बेचारा करे क्या? वह इस समय बिलकुल ही विवेकहीन हो है। केवल तीन नेत्रधारी ने मनोजमहोदय के साथ जो सुलूक था उसीको वह अब तक नहीं सम्भाल सका। मेरी समझ नहीं आता कि यदि अब सहस्रनेत्रधारी उस पर रुष्ट हुआ तो बेचारे की क्या दशा होगी? मनसिज के तो शरीरकृत अपराधों शचीपति सम्मत हो रहा है, कोकिल का तो वचनरूप अपराध उसे सहन नहीं होता। इस डर से कि कहीं पिक का शब्द कान पड़ जाय वह अपने नन्दन वन में जाकर बैठने का साहस नहीं कर सकता। और कहाँ तक कहूँ, शङ्कर के जटाजूटवाले चन्द्रमा को अपना अपकारकर्ता समझकर महादेव का पूजन करना उसने छोड़ दिया है। तुम्हारे वियोग में उसके धैर्य का मूल उन्मूलन हो गया है। कल्पवृक्ष संसार के दारिद्र्य हरण का

सामर्थ्य रखते हैं। परन्तु इस समय वे स्वयंही महादरिद्री हो रहे हैं। इन्द्र का शरीर सन्ताप दूर करने के लिए उनके पत्तों की शय्यायें बना डाली गई हैं। अतएव वे सब ये पत्ते के ठूँठ खड़े हुए हैं। तुम शायद यह शङ्का करो कि क्या अमरपुर में ऐसा पण्डित नहीं जो अपने सदुपदेश से इन्द्र को धैर्य प्रदान करे। शङ्का तुम्हारी निर्मूल नहीं। परन्तु उपदेश सुने कौन? रति पति के धन्वा की अविरत टङ्कार ने इन्द्र को दोनों कानों से बहरा कर डाला है। अतएव महेन्द्र की मोह-निद्रा को दूर करनेवाले सुर-गुरु बृहस्पति की धैर्य्य विधायक वाणी सर्वथा व्यर्थ हो रही है।

अष्टमूर्ति शङ्कर का जो देदीप्यमान शरीर है और जिसकी नित्य उपासना करते हैं उस अग्नि का भी बुरा हाल है। कुसुमशायक ने उसे भी तुम्हारा दास बनने की आज्ञा दे दी है। दूसरों को जलाते समय अग्नि अब तक यह न जानता था कि कितना ताप होता है—उन्हें कितनी जलन होती है। परन्तु तुम्हारी सहायता से अग्नि को जलाकर इस समय अनङ्ग उसे यहाँ तक विनीत और विनम्र बना रहा है कि भविष्यत् में दूसरों को दुःख देने का उसे कदापि साहस न होगा। क्योंकि, अब उसे जलने का दुःख अच्छी तरह ज्ञात हो गया है। शङ्कर के तीसरे नेत्र में वास करनेवाले पावक ने मनसिज को एक बार जला कर भस्म कर दिया था। इस बात को तुमने पुराणों में सुना होगा। सो उसी पुराना बदला लेने के लिए इस समय मनोज ने तुम्हारे नेत्रों का सहारा लिया है। उन्हीं के भीतर सुरक्षित बैठा हुआ वह अग्नि को जला रहा है। उसका यह कठोर कार्य्य बहुत दिन से जारी है। तथापि वह यही समझ रहा है कि अभी तक उस वैरभाव का काफ़ी बदला नहीं हुआ। तुम्हारे कारण कुसुमायुध के शरीर

ह यहाँ तक पीड़ित हो गया है कि अपने भक्तों के द्वारा चढ़ाये । कुसुमों से भी डर कर यह कोसों दूर भागता है।

सरोरुहों का सखा सूर्य्य जिससे पुत्रवान् है और चन्दन के त्रान से सुगन्धित दक्षिण दिशा जिसकी प्रियतमा है उस वैवस्वत म ने भी तुम्हारे निमित्त कामाग्नि-कुण्ड में अपने धैर्य्य की आहुति डाली है। वह भी इस समय बड़ी ही विषमावस्था को प्राप्त है। ीतोपचार के लिए मलयाचल से लाये गये कोमल पल्लव उसके ारीरस्पर्श से यद्यपि बेतरह फुलस जाते हैं तथापि मलय इस आपत्तिकाल में भी अपने प्रभु यम की सेवा नहीं छोड़ता। कारए ाह है कि वह उसी की दिशा—उसीके राज्य का—वासी है ातएव यम के शरीर के साथ मलयाद्रि भी अपने नवपल्लव और ान्दनादि जलाने का सन्ताप सहन कर रहा है।

रहा वरुण, सो उसकी भी दशा अच्छी नहीं। महाभाग ुगानुयुग से बड़वाग्नि की ज्वाला सहन करता चला आ रहा है ाह उसे विशेष दाहकारक नहीं जान पड़ती। परन्तु अपने ाधिपति वरुण का स्मराग्निसन्तप्त शरीर जल के भीतर धार ारने में वह इस समय असमर्थ हो रहा है।

ये चारों देवता तुम्हारे नगर के बाहर पास ही ठहरे हुए हैं उन्हीं की आज्ञा से मैं तुम्हारी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। जो कु मैंने तुमसे निवेदन किया वह उन्हींका सन्देश है। अब कृपा कर बतलाओ कि उन्हें अपनी इच्छापूर्ति के लिए कब तक ठहर ापड़ेगा। उनके जीवन संशयापन्न हैं। अतएव जहाँ तक हो ाुम्हें शीघ्रता करनी चाहिए। तुम प्रतिदिन इन देवताओं की पू ाकमल के फूलों से करती हो। परन्तु इस तरह की पूजा ये ाचाहते। यह इनको प्रीतिकर नहीं। तुम्हें प्रसन्न करने के लिये

स्वयं ही अपना मान्य तुम्हारे सामने झुका रहे हैं। मन्दार क
चरणकमलों में तुम इनकी पूजा करो, प्राकृतिक कमनीयं
नहीं। अब क्या बाकी है?

—महावीरप्रसाद द्विवेदी
(सरस्वती से)

११—वह कौन गाता है ?

(सन् १९१४)

कोई गाता चला जा रहा है। बहुत समय से भूले हुए स्वप्न की स्मृति की तरह उस मधुर गीत ने मेरे कानों मे किया। वह गीत कुछ बहुत सुन्दर नहीं है। पथिक अपनी से राह चलते चलते गाता जा रहा है। चाँदनी रात देखकर हृदय का आनन्द उमड़ आया है। उसका कण्ठ स्वभाव ही से है—वह उसी अपने मधुर कण्ठ से मधुमास (चैत) में सुध माधुरी बरसाता हुआ जा रहा है। तो फिर सितार में फेरने से जैसे उसके तार झनझना उठते हैं उसी तरह इस अपने स्पर्श से मेरी हृदय-तन्त्री को क्यों बजा दिया ?

क्यों, इसका समाधान कौन करेगा ? चाँदनी रात है—नी रेती में चाँदनी हँसते हँसते लोट रही है। नीली साड़ी से जिस आधा अङ्ग ढका हुआ हो उस सुन्दरी की तरह शीर्ण शरीरवा नील-जल-मयी नदी उस रेती को घेरे हुए बहती चली जा रही सड़क पर आनन्द ही आनन्द दिखाई देता है—लड़की, ल जवान, औरत—मर्द, प्रौढ़ा, और बुड्ढी स्त्रियाँ, सब निर्मल उ चन्द्रमा की किरणों में नहाकर आनन्द मना रहे हैं। मैं ही ५ से खाली हूँ—इसी कारण शायद इस सङ्गीत से मेरे । वीणा यों बज उठी है।

मैं अकेला हूँ—इसी कारण यह गीत सुनकर मेरे शरीर में रोमाञ्च हो आया है। इस बहुत आदमियों से भरी पूरी नगरी में—इस आनन्दपूर्ण मनुष्य-प्रवाह में मैं अकेला हूँ। तो फिर मैं भी क्यों न इस अनन्त मनुष्य-प्रवाह में मिलकर इन विशाल आनन्द-तरङ्ग ताड़ित जलके बुद्बुदों में और एक बुद्बुदा क्यों न बन जाऊँ? बूँद बूँद पानी से ही तो समुद्र बना है, मैं भी एक बूँद हूँ, फिर इस समुद्र में मिल क्यों न जाऊँ?

इच्छा होने पर भी इस समुद्र में क्यों नहीं मिल जाता—सो मैं नहीं जानता, केवल यही जानता हूँ कि मैं अकेला हूँ। मेरा तो यही उपदेश है कि भैया, इस संसार में 'अकेले' होकर न रहना। अगर अन्य किसीने तुम से 'प्यार' न पाया, तो तुम्हारा मनुष्य-जन्म ही वृथा हुआ। फूल में सुगन्ध है। लेकिन अगर कोई उसे सूँघनेवाला न होता तो फूल सुगन्धित नहीं कहला सकता था। क्योंकि सूँघनेवाले के सिवा सुगन्ध के अस्तित्व का प्रमाण ही और क्या था? देखो, फूल अपने लिये नहीं फूलते। तुम भी अपने हृदय की कली को दूसरों के लिये प्रफुल्लित करो।

पर यह तो मैंने अभी तक बतलाया ही नहीं कि केवल एक बार सुनते ही यह गीत क्यों इतना मनोहर मधुर जान पड़ा। बहुत दिनों से मैंने आनन्द की उमङ्ग से गाया गया गीत नहीं सुना था, बहुत दिनों से ऐसे आनन्द का अनुभव मेरे मन ने नहीं किया था। जवानी में, जब सारी पृथ्वी सुन्दर थी, जब हर फूल में सुगन्ध मिलती थी, हर पत्ते की खड़क में मधुर रागिनी सुन पड़ती थी, हर नक्षत्र में चित्रा-रोहिणी की शोभा देख पड़ती थी, हर आदमी के मुख पर सरलता और विश्वास का आभास पाया जाता था, तब आनन्द था। पृथ्वी अब भी वही है, संसार अब भी वही है, लोक-चरित्र अब भी वही है, किन्तु यह हृदय अब वह नहीं रहा।

उस समय गीत सुनकर जो आनन्द होता था, वही आनन्द
समय यह गीत सुनकर याद आ गया है। जिस अवस्था और जि
सुख में मैं उस समय आनन्द का अनुभव करता था वही अव
वही सुख इस समय याद आ गया है। घड़ी भर के लिये मैंने
फिर वही जवानी मिल गई। पहले की तरह फिर मैंने, इस
मन, जमी हुई मित्र मण्डली में जा बैठा, और पहले की तरह
ही अकारण ऊँचे स्वर से हँसने लगा। जिन बातों को अब मैं
समझकर इस समय नहीं कहता, उन बातों को उस समय
चञ्चल होने के कारण दिन में दस बार कहा करता था;
बातों को फिर जैसे कहने लगा। फिर जैसे पहले की तरह
सच्चे हृदय से दूसरों के स्नेह को सच्चा समझ कर सीखा
लगा। मुझे क्षण भर के लिये भ्रम या मोह हो गया—इसीसे
गीत इतना मधुर मालूम पड़ा। केवल यही कारण नहीं है।
गीत अच्छे लगते थे—अब नहीं लगते। जिस चित्त की प्रफु
या प्रसन्नता के कारण गाना अच्छा लगता था, वह प्रफुल्लता
नहीं है, इसीसे गाना भी अच्छा नहीं लगता। मैं इस समय
सुनने के पहले अपने मन के अतीत इतिहास में मन लगा
जवानी के सुख का ध्यान कर रहा था। इसी समय यह पूर्व
की सूचना देनेवाला गीत सुन पड़ा;—और इसी कारण मुझे
मधुर जान पड़ा।

यह प्रफुल्लता और वह सुख अब क्यों नहीं है? क्या सु
सामग्री कम हो गई है? या अब मैं ही नीरस हो गया हूँ?
और क्षय, दोनों ही संसार के नियम हैं। किन्तु उसके साथ
भी नियम है कि क्षय की अपेक्षा संग्रह अधिक होता है। तुम
जीवन-मार्ग में जितना आगे बढ़ोगे उतना ही अपने लिये
सामग्री-संग्रह करोगे। अच्छा तो फिर अवस्था अधिक है

इयों में शिथिलता क्यों आ जाती है? पृथ्वी वैसी सुन्दर क्यों
देख पड़ती? आकाश के तारे वैसे क्यों नहीं चमकते?
ाश की नीलिमा में वैसी उज्ज्वलता (चमक या कान्ति) क्यों
रहती? जो स्थान उस समय तृण पल्लव पूर्ण, फूलों की
न्ध से सने, स्वच्छ नदी से जलकण लेने के कारण सुशीतल
वायु से हृदय को हरा कर देनेवाले से जान पड़ते थे; वे ही
न इस समय रेतीली मरुभूमि के समान उजाड़ क्यों जान पड़ते
समझा; आशारूपी रङ्गीन चश्मा न होने के कारण ही यह
विपरीत दिखाई दे रहा है। जवानी में सञ्चित सुख थोड़ा
ता है, किन्तु सुख की आशा अपरिमित होती है। इस समय
ञ्चित सुख तो अधिक है, किन्तु वह ब्रह्माण्ड-व्यापिनी आशा
हाँ है? तब नहीं जानता था कि कैसे क्या होता है, इसीसे अनेक
शाएँ करता था। अब जान पड़ा है कि इस संसारचक्र में चढ़ने
ले को फिर वहीं लौट आना पड़ता है, जहाँ से वह चलता है।
स समय वह सोचता है कि मैं आगे बढ़ता हूँ, उस समय वह
फिर ही जाता है। अब समझ में आया है कि संसारसागर में
रते समय उसकी लहरें टक्कर मारकर किनारे फेंक जाती हैं।
ब मालूम हुआ है कि इस जङ्गल में राह नहीं है, इस मैदान में
ई जलाशय नहीं है, इस नदी का पार नहीं है, इस समुद्र में
पू नहीं है, इस अन्धकार में नक्षत्रों का भी प्रकाश नहीं है। अब
ान पड़ा है कि फूल में कीड़े हैं, कोमल पत्तों में काँटे हैं, आकाश
में मेघ हैं, निर्मल नदी में 'भँवरें' हैं, फल में विष है, बाग में साँप
हैं, मनुष्य के हृदय में केवल अपना आदर है। अब विदित हुआ है
कि हर एक वृक्ष में फल नहीं होते, हर एक फूल में सुगन्ध नहीं
होती, हर एक बादल बरसता नहीं, हर एक वन में चन्दन नहीं
होता, और हर एक हाथी में गजमुक्ता नहीं होती। अब समझा है

काँच भी हीरे की तरह उज्ज्वल होता है, पीतल भी सोने
ह चमकता है, कीचड़ भी चन्दन की तरह गीला होता है,
सा भी चाँदी की तरह मधुर शब्द करता है।—किन्तु
हता था, भूल गया। हाँ, वही गीत की ध्वनि! वह भले
ान पड़ी थी, मगर अब फिर दुबारा उसे सुनना नहीं चा
स मनुष्यकण्ठ से निकले हुए सङ्गीत के समान संसार है,
ौर भी सङ्गीत है,—संसाररस के रसिक लोग ही उसे सुन
है। इस समय वही सङ्गीत सुनने के लिये मेरा चित्त आतुर
रहा है। इस सङ्गीत को क्या न सुन पाऊँगा? सुनूँगा, अ
अनेक बाजों की ध्वनि में मिले हुए और बहुत कण्ठों से
हुए संसार सङ्गीत को न सुनकर उसी सङ्गीत को सुनूँगा।
न वे पहले के गानेवाले हैं—न वह अवस्था है और न वह
ही है। किन्तु, इससे मैं दुखी नहीं हूँ,—अब उस संसार
के बदले जो सङ्गीत सुन रहा हूँ, वह उससे बढ़कर प्रसन्नता
वाला है। इस समय जिस सङ्गीत से मेरे कान तृप्त हो
उसमें अन्य किसी बाजे का शब्द नहीं है।

'प्रीति' इस संसार में सर्वव्यापिनी है—प्रीति ही ईश्वर
प्रीति का ही सङ्गीत इस समय मेरे कानों में भरा हुआ है।
चाहता हूँ कि अनन्त काल तक इस प्रीति या प्रेम के सङ्गीत
मिलकर मनुष्य समाज के हृदय की वीणा बजती रहे। यदि
जाति पर मेरा प्रेम बना रहे तो फिर मैं और सुख नहीं चाहता।

रूपनारायण पाण्डेय
(चौबे का चिट्ठा से)

पद्य भाग

१—गुरु के लक्षण

(सन् १४२०)

गुरु कीजिये निरखि परखि के, ज्ञान रहनि का सूरा।
गर्व गुमान माया मद त्यागै, दया छिमा सत पूरा॥
गैल बतावै अमर लोक की, गावै सतगुरु बानी।
गज मस्तक अंकुश गहि बैठे, गुरुवा गुन गलतानी॥
पाप पुन्य की आस नहिं, करम भरम से न्यार।
कृत्रिम पाखंड परिहरे, अस गुरु करो विचार॥

—कबीर दास

२—वर्णन

(सन् १५०१)

अद्भुत एक अनुपम बाग।
जुगल कमल पर गजवर क्रीडत तापर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सर वर, सर पर गिरवर, गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर ताहू पर अमृत फल लाग॥
फल पर पुहुप, पुहुप पर पालव, तापर सुक, पिक, मृगमद काग।
खंजन धनुष चन्द्रमा ऊपर, ता ऊपर एक मनिधर नाग॥
अंग अंग प्रति और और छवि उपमा ताको करत न त्याग।
सूरदास प्रभु पियहु सुधारस मानहु अधरन को बड़ भाग॥

—सूरदास

३—बालकृष्ण

गहे अँगुरिया तात की नन्द चलन सिखावत।
अरबराइ गिरि परत हैं कर टेकि उठावत॥
बार बार बकि स्याम सों कछु बोल बकावत।
दुहूँघा दोउ दँतुली भईं अति मुख छवि पावत॥
कबहुँ कान्ह कर छाँड़ि नंद पग द्वै करि धावत।
कबहुँ धरनि पर बैठि के मन महँ कछु गावत॥
कबहुँ उलटि चलैं धाम को घुटुरुन करि धावत।
सूर स्याम मुख देखि महर मन हर्ष बढ़ावत॥

४—भीष्मप्रतिज्ञा

आज जो न हरि से शस्त्र गहाऊँ।
तौ लज्जा गङ्गा जननी को शान्तनु सुत न कहाऊँ॥
स्यन्दन खण्डि महारथ खण्डौं कपिध्वज सहित डुलाऊँ।
इती न करौं सपथ मोहि हरि की क्षत्रिय गतिहि न पाऊँ॥
पाण्डव दल सम्मुख ह्वै धाऊँ, सरिता रुधिर बहाऊँ।
सूरदास रणभूमि विजय बिन जियत न पीठ दिखाऊँ॥

—सूरदास

५—भजन

(सन् १५५०)

अब मैं सरण तिहारी जी, मोहि राखो कृपा निधान॥
अजामील अपराधी तारे, तारे नीच सदान॥
जल डूबत गजराज उबारे, गणिका चढ़ी विमान॥ १॥

और अधम तारे बहुतेरे, भाखत संत सुजान।
कुबजा नीच भीलनी तारी, जाने सकल जहान ॥ २ ॥
कहँ लगि कहूँ गिनत नहिं आवै, थकि रहे बेद पुरान।
मीरा कहै मैं सरण रावली, सुनियो दोनों कान ॥ ३ ॥

—मीराबाई

६—अन्योक्ति

(सन् १५७५)

सुनिये बिटप प्रभु पुहुप तिहारे हम,
राखिये हमें तो शोभा रावरी बढ़ाय हैं।
तजिये हरष कै बिरषन वारे कछू,
जहाँ जहाँ जांय तहाँ दूनो छबि पाय हैं ॥
सुरन चढ़ैंगे सुरनरन चढ़ैंगे शीश,
सुकवि रहीम हाथ ही हाथ बिकाय हैं।
देश में रहैंगे परदेश में रहैंगे,
काहू भेष में रहैंगे पै रावरे कहाय हैं ॥ १ ॥

—रहीमकवि खानखाना

७—रसखान के सवैये

(सन् १६००)

ुष हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
पसु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नन्द कि धेनु मँझारन ॥
हन हौं तो वही गिरि को जो धर्यो ब्रज छत्र पुरन्दर कारन।
ग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदम्ब की डारन ॥ १ ॥

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँपुर को तजि डारौं।
आठौं सिद्धि नवौ निधि को सुखनन्द की गाय चराय बिसारौं
कोटि करौं कल धौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं,
रसखानि कहै इन आँखिन सों ब्रजके बन बाग तड़ाग निहारौं॥
सेस गनेस महेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि अनन्त अखण्ड अछेद अभेद सुबेद बतावैं।
नारद से सुक व्यास रहैं पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं।
प्रान वही जु रहैं रिझि वा पर रूप वही जिहि वाहि रिझायो
सीस वही जिन वे पर के पद अंक वही जिन वा परसायो
दूध वही जु दुहायो री वाहि दही सु सही जु वही ढरकायो
और कहाँ लौं कहाँ रसखानि री भाव वही जु वही मन भायो

—रसख

८—रामाश्वमेध

(सन् १६००)

दोहा

विश्वामित्र वसिष्ठ सौं, एक समय रघुनाथ।
आरम्भो केशव करन, अश्वमेध की गाथ॥ १॥

राम—

चामर छन्द

मैथिली समेत तौं अनेक दान मैं दियो।
राजसूय आदि दे अनेक यज्ञ मैं कियो॥
सीय त्याग पाप ते हिये सौं हौं महाडरौं।
और एक अश्वमेध जानकी विना करौं॥ २॥

धीर छन्द

योधा भगे वीर शत्रुघ्न आये। कोदण्ड लीन्हें महारोष छाये॥
ठाढ़ो तहाँ एक बालै विलोक्यो। रोक्यो तहाँ जोर[illegible]१४

शत्रुघ्न—

न्दरी छन्द

बालक छाँड़ि दे छाँड़ि तुरङ्गम। तोसों कहा करौं संगर संगम॥
ऊपर वीर हिये करुणा रस। वीरहि विप्र हते न कहूँ यश॥१५॥

लव—

तारक छन्द

कछु बात बड़ी न कही मुखथोरे। लवसों न जुरौ लवणासुरभोरे।
द्विजदोषनहीं[illegible]संहारा।मारिहांजोरहोसोकहातुममारो१६

चामर छन्द

राम बन्धु बाण तीन छोड़िये त्रिशूल से।
भाल में विशाल ताहि लागियो ते फूल से॥ १७॥

लव—

घात कौन राजतात गात तैं कि पूजियो।
कौन शत्रु तैं हयो जो नाम शत्रुहा लियो॥ १८॥

निशिपालिका छन्द

रोष करि बाण बहु भाँति लव छण्डियो।
एक ध्वज सूत युग तीन रथ खण्डियो॥
शस्त्र दशरथ सुत अस्त्र कर जो धरै।
ताहि सिय पुत्र तिल तूल सम संहरै॥ १९॥

तारक छन्द

रिपुहा कर बाण वहै कर लीन्हों।
लवणासुर को रघुनन्दन दीन्हों॥
लव के उर में उरझ्यो वह पत्री।
मुरझाय गिरयो धरणी महँ सत्री॥ २०॥

मोनक छन्द

ाहुँ लव भूमि परे जबहीं। जय दुन्दुभि बाजि उठे तबहीं।
ुव तें रथ ऊपर आनि धरे। शत्रुघ्न सों यों करुणानि भरे।
ोड़ा तबही तिन छोरि लयो। शत्रुघ्नहिं आनन्द चित्त भयो।
कै लव को ते चले जबहीं। सीता पहँ बाल गये तबहीं॥ २

बालक—

झूलना छन्द

सुनु मैथिली नृप एक को लव बाँधियो बर बाजि।
चतुरङ्ग सैन भगाइ कै तब जीतियो वह आजि॥
उर लागि गो शर एक को भुव में गिरयो मुरझाय।
बन बाजि लै लव लै चल्यो नृप दुन्दुभी न बजाइ॥ २३॥

दोहा

सीता गीता पुत्र की, सुनि सुनि भई अचेत।
मनो चित्र की पुत्रिका, मन क्रम बचन समेत॥ २४॥

सीता—

झूलना छन्द

रिपु हाथ श्री रघुनाथ के सुत क्यों परे करतार।
पति देवता सब काल जो लव तो मिले यहि बार॥
ऋषि हैं नहीं कुश है नहीं लव लेइ कौन छुड़ाइ।
बन माँझ टेर सुनी जहीं कुस आइयो अकुलाइ॥ २५॥

कुश —

दोहा

रिपुहिं मार संहारदल, यमते लेउँ छुड़ाय।
लवहिं मिले हौ देखिहौ, माता तेरे पाय ॥ २

सवैया

...ो सिन्धु सरोवर सो ज्यहि बालि बली बर सो वर पेलो।
...दिये शिर रावण से गिरि से गुरु जात न जानत हेलो।
...समूल उखारि लियो लवणासुर पीछे ते आइ सो टेलो।
...को दल मत्तकरी सुर अंकुश दे कुश के सब फेलो ॥ २७ ॥

दोहा

कुश की टेर सुनी जबहीं, फूल फिरे शत्रुघ्न।
दीप बिलोकि पतङ्ग ज्यों, यदपि भयो बहु विघ्न ॥ २८ ॥

मनोरमा छन्द

...न्दन को अवलोकतही कुश। उरमांझ हयो शर शुद्ध निरंकुश ॥
...रेरथ ऊपरलागतही शर। गिरिऊपर ज्यों गजराजकलेवर ॥२९

सुन्दरी छन्द

...क गिरे जबहीं अरिहारन। भाजि गये तबहीं भट के गन
...दै लियो जबहीं लवको शर। कण्ठलग्यो तबही उठिसोदर ॥३०॥

दोहा

मिले जो कुशलव कुशल सो, बाजि बाँधि तरुमूल।
रण महि ठाढ़े शोभिजै, पशुपति गणपति तूल ॥ ३१ ॥

रूपमाला छन्द

यहमण्डल में हते रघुनाथ जू तेहि काल।
धर्म अङ्ग कुरङ्ग को शुभ स्वर्ग की सँगबाल।

नाराच छन्द

मनो चले बनू बनैन छाँड़ि छोड़ि मन्दनी।
मनो चली महारानी गयन्द वृन्द की मनी॥
कुशी लखे निरंकुशी बिलोकि बंधु राम को।
डर्यो रिसाय कै बली बंध्यो गयो सबाज दाम को॥

कुश—

मौक्तिक दाम छन्द

न हौ मकराक्ष न हौ इन्द्रजीत। विलोकि तुम्हैं रण होहुँ न
सदा तुम लक्ष्मण उत्तम गात। करो जनि आपनि मातु मनाथ

लक्ष्मण—

कहौ कुश जो कहि आवत बात। विलोकति हौ उपवीतहि
इते पर बाल बहिक्रम जानि। हिये करुणा उपजै अति मानि
विलोचन लोचत है लखितोहि। तजो हठ मानि भजो किन
क्षम्यो अपराध भजो घर जाहु। हिये उपजाउ नमातहि दाहु

दोधक छन्द

हौ हतिहौ कबहुँ नहि तोही। तु यह बाणन बेधहि
बालक विप्र कहा हनिये जू। लोक अलोकन में गनिये जू।

कुश—

हरिणी छन्द

लक्ष्मण हाथ हथियार धरो। यह वृथा प्रभु को न
हौं हय को कबहूँ न तजौं। पट्ट लिख्यो सोई बाँच लजौं

स्वागता छन्द

बाण एक तब लक्ष्मण छंड्यो। चर्म वर्म बहुधा तिन
ताहि हीन कुश चित्तहि मोहे। धूमभिन्न जनु पावक सोहे

र कुश धाए चलायो । पवनचक्र जिमि चित्त भ्रमायो ॥
रोहि रथ ऊपर सोये । ताहि देखि जड़ जंगम रोये ॥ २३ ॥

नाराच छन्द

विराम राय जानि कै भरत्थ सों कथा कहैं ।
विचारि चित्त मांझ वीर धीर वे कहाँ रहैं ।
सरोष देखि लक्ष्मणै त्रिलोकनो विलुप्त है ।
मरेव देवता प्रसैं कहा ते बाल दीन है ॥ २४ ॥

राम—

रूपमाला छन्द

जाहु सत्वर दूत लक्ष्मण हैं जहाँ यहिवार ।
जायकै यह बात वर्णहु रक्षियो मुनिवार ॥
हैं समर्थ सनाथ वे असमर्थ और अनाथ ।
देखिये कहँ ल्यायो मुनि बाल उत्तम गाथ ॥ २५ ॥

सुन्दरी छन्द

त आये गये तबहीं । बहु बार पुकारत भारत रत्तहु ॥
भाँतिन सैन संहारत । लक्ष्मण तौ तिनको नहिं मारत॥२६॥
[illegible] जानि सजै करुणा करि । पै अति दीठ भये दल संहरि ॥
र भाजत गाजत हैं रण । वीर अनाथ भये बिनु लक्ष्मण ॥२७॥
[illegible] जनि इनको मुनि बालक । वै कोउ है जगती प्रतिपालक ॥
[illegible] रावण के कि सहायक । कै लवणासुर के हित दायक ॥२८॥

भरत—

[illegible] रा— के न सहायक । न लवणासुर के हितदायक ॥
[illegible] । मोहत है रघुवंशिन के बल ॥२९॥

सीतहि कै रघुनाथ सिधारहि । के पर्ने लछमन केसरि जि॥
लछमन सीय तजी जब ही बन । लोक अलोकन पूरि रहे तन ।
छोड़ि ह्वाहन में सब ही तन । पाइ निमित्त करेउ मन पावन ।
अश्वमेधतज्यो तन गौरव लाजनि । पूर भये नहि पापसमाजनि ॥

दोधक छन्द

पातक कौन तजी तुम सीता । पावन होत सुने जग गीता ।
दोष विहीनहि दोष लगावै । सो प्रभु ये फल काहि न पावै ॥
हमहूँ त्यहि तीरथ जाइ मरेंगे । सतसङ्गति दोष अशेष हरेंगे ।
वानर राक्षस ऋच्छ निहारे । गर्व चढ़े रघुवंशहि भारे ।
ता लगि यह कै बात विचारी । हो प्रभु संतत गर्व प्रहारी ॥ ३३

चञ्चरी छन्द

क्रोध कै मनि भरत अङ्गद संग संगर को चले ।
जामवन्त चले विभीषण वीर वीर भले भले ॥
को गनै चतुरङ्ग सेनहि रोदसी नृपता भरी ।
जाइ कै अवलोकियो रण में गिरे गिरि से करी ॥ ३४

रूपमाला छन्द

जामवन्त बिलोकि तहँ रणभीम भू हनुमन्त ।
शोणि की सरिता बही सुमनन्त रूप दुरन्त ।
यत्र तत्र ध्वजा पताका दीन देहनि भूप
टूटि टूटि परे मनो बहु बात वृक्ष अनूप ॥ १ ।
पुञ्ज कुञ्जर शुभ्र स्यंदन शोभिजै सुठि शूर
ठेलि ठेलि चले गिरीशनि पेलि शोणित पूर ।
ग्राह तुङ्ग कच्छप चारु चर्म विशाल
चक्र से रथ चक्र पैरत गृद्ध वृद्ध मराल ॥ २ ।

कुश—

दोधक छन्द

बालक वृद्ध कहौ तुम काको। देहनि को किधौं जीवप्रभा को॥
है जड़ देह कहै सब कोई। जीव सो बालक वृद्ध न होई॥१॥
जीव जरै न मरै नहिं छीजै। ताकहँ शोक कहा करि कीजै॥
जीवहि विप्र न क्षत्रिय जानो। केवल ब्रह्म हिये महँ मानो॥२॥
जो तुम देहु हमैं कछु शिक्षा। तो हम देहिं तुम्हैं यह भिक्षा॥
चित्त विचार परै सोइ कीजै। दोष कछू न हमैं अब दीजै॥३॥

स्वागता छन्द

विप्र बालकन की सुनि बानी। क्रुद्ध सूर्य्य सुत सो अभिमानी॥१॥

सुग्रीव—

विप्र पुत्र तुम धीरा सँभारौ। राखि लेहि अब ताहि पुकारौ॥१॥

राम—

गौरी छन्द

सुग्रीव कहा तुमसौं रण माँड़ौं। तोकौं अतिकायर जानिकै छाँड़ौं॥
बालि तुम्हैं बहु नाच नचायो। कहा रघुनंदन सौं तन आयो॥१॥

तारक छन्द

[illegible]
[illegible]

सुन्दरी छन्द

दोधक छन्द

देवबधू जबही हरि ल्यायो। क्यों तबहीं तजि ताहि न आयो॥
यों अपने जियके उर आये। क्षुद्र सबै कुल छिद्र बताये॥ १८॥

दोहा

जेठो भैया अन्नदा, राजा पिता समान।
ताकी पत्नी तू करी, पत्नी मातु समान॥ १९॥

तोटक छन्द

रगरे जग मांझ हँसावत है। रघुवंशिन पाप नशावत है॥
धिक तो कहँ तू अजहूँजो जिये। खलजाइ हलाहल क्योंनपिये॥२०॥
तु है अपतो कहँ लाज हिये। कहि कौन विचार हथ्यार लिये॥
ब जाइ करीषको आगजरो। गर बांधिकैसागर बूड़ि मरो॥ २१॥

दोहा

कहा कहौं हौं भरत को, जानत है सब कोय।
मो सों पापी सङ्ग है, क्यों न पराजय होय॥ २२॥
बहुत युद्ध भो भरत सों, देव अदेव समान।
मोहि महारथ पर गिरे, मारे मोहन बान॥ २३॥

दोहा

भरतहि भयो बिलम्ब कछु, आये शीरघुनाथ।
देख्यो यह संग्राम थल, जूझि परे सब साथ॥ १॥

तोटक छन्द

रघुनायहि आवत आइ गये। रण मैं मुनि बालक रूप रये।
गुण रूप सुशीलन सों रण मैं। प्रतिबिम्ब मनो निज दर्पण मैं॥२।

वसन्ततिलका छन्द

सीता समान मुख चन्द्र विलोकि राम।
बूझ्यो कहाँ बसत हौ तुम कौन ग्राम॥

माता पिता कवन कौन्यहि कर्म कीन।
विद्या विनोद शिष कौन्यहि अस्त्र दीन ॥ ३ ॥

कुश—

रूपमाला छन्द

राजराज तुम्हें कहा मम बंश सों अब काम।
बूझि लीन्हहु ईश लोगन जीत कै संग्राम ॥ ४ ॥

राम—

हौं न युद्धकरौं कहे बिन विप्रवेश विलोकि।
वेगि वीर कथा कहौ तुम आपनी रिसरोकि ॥ ५ ॥

कुश—

कन्यका मिथिलेश की हम पुत्र जाये दोइ।
बालमीकि अशेष कर्म करे कृपा रस भोइ॥
अस्त्र शस्त्र सबै दये अरु वेद भेद पढ़ाय।
बाप को नहिं नाम जानत आजु लौं रघुराय ॥ ६ ॥

दोधक छन्द

जानकि के मुख अक्षर आने। राम तहीं अपने सुत जाने।
विक्रम साहस शील विचारे। युद्ध कथा कहि आयुध डारे।

राम—

अङ्गद जीत इन्हें गहि ल्यावो। कै अपने बल मारि भगावो।
वेगि बुझावहु चित्त चिता को। आजु तिलोदक देहु पिता को॥
अङ्गद तो अङ्ग अङ्गनि फूले। पवन के पुत्र कह्यो अति भूले।
जाइ जुरे लव सों तरु लैकै। बात कही शत खण्डन कै।

लव—

जा दिन ते युवराज कहाये। विक्रम बुद्धि विवेक ब
जीवत पै कि मरे पहँ जैहैं। कौन पिताहि तिलोदक दैहै

द हाथ गहे तरु जोई । जात नहीं तिल सो कटि सोई ॥
त पुञ्ज जिते उन मेले । फूल के तूल लै बाणन झेले॥११॥
न बेधि रही सब देही । बानर ते जो भये अब सेही ॥
न ते शर मारि उड़ायो । खेलि के कन्दुक को फल पायो॥१२॥
हत है अध ऊरध ऐसे । होत बटा नट को नभ जैसे ॥
न कहूँ न इते उत पावै । गोबल चित्त दशो दिशि धावै॥१३॥
त धर्यो सो भयो सुर भङ्गी । ह्वै गये अङ्ग त्रिशङ्कु के सङ्गी ॥
रघुनायक हौं जन तेरो । रक्षहु गर्व गयो सब मेरो ॥१४॥
न सुनो जन की जब बानी । जी करुणा लव बाणन मानी ॥
ड़ि दियो गिरि भूमि पछोई । विह्वल ह्वै अति मानो मसोई॥१५॥

विजय छन्द

निरख कै भट भूरि भिरे बल खेत खड़े करतार करे के ।
मारे भिरे रण भूधर भूप न टारे टरे इभ कोटि अरे के ॥
तेप सों खड्ग हने कुश केशव भूमि गिरे न टरेहूँ गरे के ।
राम विलोकि कहैं रस अद्भुत लावे अरे नग नाग मरे के ॥१६॥

दोधक छन्द

बानर रिच्छ जिते निशिचारी । लैन सबै पश बालु संहारी ॥
बाण विधे सब ही अब जोवै । क्रन्दन में रघुनन्दन सोवै ॥१७॥

गीतिका छन्द

रण जोर कै सब शीश भूषण सग्रहे जे भले भले ।
हनुमन्त को पद आनयन्नहि वाजि गो प्रभि लै चले ॥
रणजीनि कै सब माल लै करि मातु पै कुश दी दरे ।
शिर सूँघि कण्ठ लगाय आनन चूँबि गोद दुवौ धरे ॥ १८ ॥

माता पिता कवन कौन्यहि कर्म प
विद्या विनोद दिए कौन्यहि अस्त्र

कुश—

रूपमाला छन्द

राजराज तुम्हैं कहा मम वंश सौं
बूझि लीन्हहु ईश लोगन जीत कै

राम—

हौं न युद्ध करौं कहे बिन विप्रवेश
वेगि वीर कथा कहौ तुम आपनी

कुश—

कन्यका मिथिलेश की हम पुत्र
बालमीकि अशेष कर्म करे कृपा
अस्त्र शस्त्र सबै दये अरु वेद
बाप को नहिं नाम जानत आजु

दोधक छन्द

जानकि के मुख अक्षर आने। राम तहीं
विक्रम साहस शील विचारे। युद्ध कथा

राम—

अङ्गद जीत इन्हैं गहि ल्यावो। कै अपने
वेगि बुझावहु चित्त चिता को। आजु तिल
अङ्गद लौ अङ्ग अङ्गनि फूले। पवन के पु
जाइ जुरे लव सौं नग लैकै। बात कह

लव—

जा दिन ते युवराज कहाये। विक्रम
जीवन पै कि मरे पहँ जैहै। कौन पि

तोटक छन्द

रे रण मण्डल माँक गये। अवलोकत ही अति भीत भये ॥
ालकको अति अद्भुत विक्रम। अवलोकि भयोमुनिकेमनसंभ्रम ॥

दण्डक

शोणित सलिल नर बानर सलिलचर,
गिरि बालि सुत विप विभीषण डारे हैं।
चमर पताका बड़ी बड़वा अनलसम,
रोग रिपु जामवन्त केशव विचारे हैं ॥
बाजि सुरबाजि सुरगज से अनेक गज,
भरत सबन्धु इन्दु अमृत निहारे हैं।
सोदर सहित शेष रामचन्द्र कुश लव,
जीति कै समर सिन्धु साँचेहु सुधारे हैं ॥ ६ ॥

सीता—

दोहा

मनसा वाचा कर्मणा, जो मेरे मन राम।
तो सब सेना जी उठे, होहि घरी न विराम ॥ १० ॥

दोधक छन्द

ब उठी सब सैन सुभागी। केशव सोवत ते जनु जागी ॥
सुत सीतहि लै सुखकारी। राघव के मुनि पायन पारी ॥ ११ ॥

मनोरमा छन्द

म सुन्दर सोदर पुत्र मिले जहँ। बर्षा बर्षे सुर फूलन की तहँ ॥
पादिवि दुन्दुभिके गण बाजत। दिगपाल गयन्दनके गण लाजत ॥

अङ्गद—

स्वागता छन्द

म देव तुम गर्व प्रहारी। मित्र तुच्छ अति बुद्धि हमारी ॥
देव प्रभुतै कहि आयो। दास जानि प्रभु मारन लायो ॥ १२ ॥

रूपमाला छन्द

सुन्दरी सुत लै सहोदर याजि लै सुख पाय।
साथ लै मुनि वालमीकहि दीन दुःख नशाइ॥
राम धाम चले भये यश लोक लोक बढ़ाइ।
भाँति भाँति सुदेश केशव दुन्दुभीन बजाइ॥ १४॥
भरत लक्ष्मण शत्रुहा पुर मीर टारत जात।
चौंर ढारत हैं दुहूँ दिशि पुत्र उत्तम गात॥
छत्र है कर इन्द्र के सुर शोभिजै बहु भेव।
मत्त दन्ति चढ़े पढ़ जय शब्द देवन देव॥ १५॥

दोधक छन्द

यज्ञथली रघुनन्दन आये। धामनि धामनि होत बधाये।
श्रीमिथिलेश सुता बड़ भागी। स्यो सुत सासुन के पग लागी॥१६॥

दोहा—

चारि पुत्र द्वै पुत्रसुत, कौशल्या तब देखि।
पायो परमानन्द मन, दिगपालन सम लेखि॥ १७॥

रूपमाला छन्द

यज्ञ पूरण कै रमापति देत दान अशेष।
हीर नीरज चीर माणिक वर्षि वर्षा वेष॥ १८॥
अङ्गराग तड़ाग बाग फले भले बहु भाँति।
भवन भूषण भूमि भाजन भूरि बासर राति॥ १९॥

दोहा

एक अयुत गज वाजि द्वै, तीनि सुरभि शुभ वर्ण।
एक एक विप्रहि दई, केशव सहित सुवर्ण॥ २०॥
देव अदेव नृदेव अरु, जितने जीव त्रिलोक।
मन भायो पायो सबन, कीन्हें सबन अशोक॥ २१॥

अपने अरु सोदरन के, पुत्र विलोकि समान ।
न्यारे न्यारे देश दे, नृपति किये भगवान ॥ २२ ॥
कुश लव अपने भरत के, नन्दन पुष्कर तक्ष ।
लक्ष्मण के अङ्गद भये, चित्रकेतु रणदक्ष ॥ २३ ॥

भुजङ्गप्रयात छन्द

पुत्र शत्रुघ्न द्वै दीप जाये । सदा साधु शूरे बड़े भाग पाये ॥
मित्र पोषी हनै शत्रु छाती । सुबाहै बड़ो दूसरो शत्रुघाती॥२४॥

दोहा—

कुश को दई कुशावती, नगरी कोशल देश ।
लव को दई अवंतिका, उत्तर उत्तम वेश ॥ २५ ॥
पश्चिम पुष्कर को दई, पुष्करवति है नाम ।
तक्षशिला तक्षहि दई, जई जीति संग्राम ॥ २६ ॥
अङ्गद कहँ अङ्गद नगर, दीन्हों पश्चिम ओर ।
चन्द्रकेतु चन्द्रावती, लीन्हीं उत्तर ओर ॥ २७ ॥
मथुरा दई सुबाहु को, पूरन पावन गाथ ।
शत्रुघात को नृप कियो, देशनि को रघुनाथ ॥ २८ ॥

तोटक छन्द

द भाँति से रक्षित भूमि भई । नव पुत्र मनोजन बाँटि दई ॥
पुत्र सदा प्रभु बोलि लिये । बहुभाँतिन के उपदेश दिये ॥२९॥

चामर छन्द

बोलिये न झूँठ ईठि मूढ़ पै न कीजई ।
दीजिये जो बात हाथ भूलिहू न लीजई ॥
नेह तोरिये न देहु दुःख मन्त्रि मित्र को ।
यत्र तत्र जाहु पै पत्याहु जै अमित्र को ॥ ३० ॥

यहि विधि शिव दै पुत्र सब, विदा करे दे राज।
राजत श्रीरघुनाथ सग, शोभित बन्धु समाज ॥ ३८ ॥

रूपमाला छन्द

रामचन्द्र चरित्र को जो सुनै सदा सुख पाई।
ताहि पुत्र कलत्र सम्पति देत श्री रघुराई ॥
यज्ञ दान अनेक तीरथ न्हान को फल होई।
नारिका नर विप्र क्षत्रिय वैश्य शूद्र जो कोई ॥ ३९ ॥

रूपकान्ता छन्द

अशेष पुन्य पाप के कलाप आपने बहाइ।
विदेह राज ज्यों सदेह भक्त राम को कहाइ ॥
लहै सुभुक्ति लोक लोक अन्त मुक्ति होहि ताहि।
कहै सुनै पढ़ै गुनै जो रामचन्द्र चन्द्रिकाहि ॥ ४० ॥

—केशवदास

९—लङ्का में हनुमान

(सन् १६२०)

दोहा

भवन गयउ दसकन्धर, इहाँ पिसाचिनिबृन्द।
सीतहिं त्रास देखावहिं, धरहिं रूप बहु मन्द ॥ १० ॥

चौपाई

त्रिजटा नाम राच्छसी एका।
राम चरन रति निपुन बिबेका ॥
सबन्हौ बोलि सुनायेसि सपना।
सीतहिं सेइ करहु हित अपना ॥

सपने बानर लंका जारी।
जातुधान सेना सब मारी॥
खर आरूढ़ नगन दससीसा।
मुंडितसिर खंडित-भुज बीसा॥
एहिबिधि सो दच्छिनदिसि जाई।
लंका मनहुँ बिभीषन पाई॥
नगर फिरी रघुबीर-दोहाई।
तब प्रभु सीता बोलि पठाई॥
यह सपना मैं कहौं पुकारी।
होइहि सत्य गये दिन चारी॥
तासु बचन सुनि ते सब डरीं।
जनकसुता के चरनन्हि परीं॥

दोहा

जहँ तहँ गईं सकल तब, सीता कर मन सोच।
मास दिवस बीते मोहि, मारिहि निसिचर पोच॥ ११

चौपाई

त्रिजटा सन बोली कर जोरी।
मातु बिपति संगिनि तैं मोरी॥
तजउँ देह करु बेगि उपाई।
दुसह बिरह अब नहिं सहि जाई॥
आनि काठ रचु चिता बनाई।
मातु अनल पुनि देहि लगाई॥
सत्य करहि मम प्रीति सयानी।
सुनइ को स्रवन सूलसम बानी॥
सुनत बचन पद गहि समुझायेसि।

प्रभु-प्रताप-बल-सुजस सुनायेसि ॥

निसि न अनल मिलु सुनु सुकुमारी।
अस कहि सो निजभवन सिधारी ॥

कह सीता विधि भा प्रतिकूला ।
मिलिहि न पावक मिटिहि न सूला॥

देखियत प्रगट गगन अङ्गारा ।
अवनि न आवत एकउ तारा ॥

पावकमय ससि स्रवत न आगी ।
मानहुँ मोहि जानि हतभागी ॥

सुनहि बिनय मम बिटप असोका ।
सत्य नाम करु हरु मम सोका ॥

नूतनकिसलय अनलसमाना ।
देहि अगिनि जनि करहि निदाना ॥

देखि परमबिरहाकुल सीता ।
सो छन कपिहि कलपसम बीता ॥

सोरठा

कपि करि हृदय बिचार दीन्ह मुद्रिका डारि तब ।
जनु असोक अंगार दीन्ह हरषि उठि कर गहेउ ॥ १२ ॥

चौपाई

तब देखी मुद्रिका मनोहर ।
राम-नाम-अंकित अतिसुन्दर ॥

चकित चितव मुदरी पहिचानी ।
हरष बिषाद हृदय अकुलानी ॥

जीति को सकइ अजय रघुराई ।
माया तें असि रचि नहिं जाई ॥

हैं सुत कपि सब तुम्हहिं समाना।
जातुधानभट अतिबलवाना॥
मोरे हृदय परम संदेहा।
सुनि कपि प्रकट कीन्ह निज देहा॥
कनक—भूधरा—कार—शरीरा।
समरभयंकर अति-बल-बीरा॥
सीता मनभरोस तब भयऊ।
पुनि लघुरूप पवनसुत लयऊ॥

दोहा

सुनु माता शाखामृग, नहिं बल-बुद्धि-बिसाल।
प्रभु प्रताप तें गरुड़हिं, खाइ परमलघु ब्याल॥ १६॥

चौपाई

मन संतोष सुनत कपिबानी।
भगति—प्रताप-तेज-बल—सानी॥
आसिष दीन्हि रामप्रिय जाना।
होहु तात बल-सील-निधाना॥
अजर अमर गुननिधि सुत होहू।
करहिं बहुत रघुनायक छोहू॥
करहिं कृपा प्रभु अस सुनि काना।
निर्भर प्रेममगन हनुमाना॥
बार बार नाएसि पद सीसा।
बोला बचन जोरि कर कीसा॥
अब कृतकृत्य भयउँ मैं माता।
आसिष तव अमोघ बिख्याता॥
सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा।
लागि देखि सुंदरफल रूखा॥

सुनु सुत करहिं बिपिनरख
परमसुभट रजनीचर भ
तिन्ह कर भय माता मोहि न
जौं तुम सुख मानहु मन मा

दोहा

देखि बुद्धि-बल-निपुन कपि, कहेउ जानकी
रघु-पति-चरन हृदय धरि, तात मधुर फ

चौपाई

चलेउ नाइ सिर पैठेउ बागा
फल खायेसि तरु तोरइ लागा॥
रहे तहाँ बहु भट रखवारे।
कछु मारेसि कछु जाइ पुकारे॥
नाथ एक आवा कपि भारी।
तेहि अशोकवाटिका उजारी॥
खायेसि फल अरु बिटप उपारे।
रक्षक मर्दि मर्दि महि डारे॥
सुनि रावन पठय भट नाना।
तिन्हहिं देखि गर्जेउ हनुमाना॥
सब रजनीचर कपि संघारे।
गये पुकारत कछु अधमारे॥
पुनि पठयेउ तेहि अक्षयकुमारा।
चला संग लेइ सुभट
आवत देखि बिटप

दोहा

कछु मारेसि कछु मर्देसि कछु मिलयेसि धरि धूर।
कछु पुनि जाइ पुकारे, प्रभु मर्कट बलभूरि ॥ १७ ॥

चौपाई

सुनि सुतवध लंकेस रिसाना।
पठयेसि मेघनाद बलवाना॥
मारेसि जनि सुत बाँधेसु ताही।
देखिय कपिहि कहाँ कर आही॥
चला इन्द्रजित अ-तुलित-जोधा।
बंधुनिधन सुनि उपजा क्रोधा॥
कपि देखा दारुन भट आवा।
कटकटाइ गर्जा अरु धावा॥
अतिबिसाल तरु एक उपारा।
बिरथ कीन्ह लंकेसकुमारा॥
रहे महाभट ता के संगा।
गहि गहि कपि मर्दइ निजअंगा॥
तिन्हहिं निपाति ताहि सनबाजा।
भिरे जुगल मानहु गजराजा॥
मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई।
ताहि एक छन मुरछा आई॥
उठि बहोरि कीन्हेसि बहु माया।
जाति न जाय प्रभंजनजाया॥

दोहा

ब्रह्म अस्त्र तेहि साधा, कपि मन कीन्ह विचार।
जौं न ब्रह्मसर मानउँ, महिमा मिटइ अपार ॥ १८ ॥

सुनु सुत करहिं बिपिनरखवारी।
परमसुभट रजनीचर भारी॥
तिन्ह कर भय माता मोहि नाहीं।
जौं तुम्ह सुख मानहु मन माहीं॥

दोहा

देखि बुद्धि-बल-निपुन कपि, कहेउ जानकी ज
रघु-पति-चरन हृदय धरि, तात मधुर फल खाहु॥ १

चौपाई

चलेउ नाइ सिरु पैठेउ बागा।
फल खायेसि तरु तोरइ लागा॥
रहे तहाँ बहु भट रखवारे।
कछु मारेसि कछु जाइ पुकारे॥
नाथ एक आवा कपि भारी।
तेहि असोकबाटिका उजारी॥
खायेसि फल अरु बिटप उपारे।
रच्छक मर्दि मर्दि महि डारे॥
सुनि रावन पठय भट नाना।
तिन्हहिं देखि गर्जेउ हनुमाना॥
सब रजनीचर कपि संघारे।
गये पुकारत कछु अधमारे॥
पुनि पठयेउ तेहि अच्छयकुमारा।
चला संग लेइ सुभट अपारा॥
आवत देखि बिटप गहि तर्जा।
ताहि निपाति महाधुनि गर्जा॥

दोहा

कछु मारेसि कछु मर्देसि कछु मिलयेसि धरि धूर।
कछु पुनि जाइ पुकारे, प्रभु मर्कट बलभूरि॥ १७॥

चौपाई

सुनि सुतबध लंकेस रिसाना।
पठयेसि मेघनाद बलवाना॥
मारेसि जनि सुत बाँधेसु ताही।
देखिय कपिहि कहाँ कर आही॥
चला इन्द्रजित अतुलित जोधा।
बन्धुनिधन सुनि उपजा क्रोधा॥
कपि देखा दारुन भट आवा।
कटकटाइ गर्जा अरु धावा॥
अतिबिसाल तरु एक उपारा।
बिरथ कीन्ह लंकेसकुमारा॥
रहे महाभट ता के संगा।
गहि गहि कपि मर्दइ निजअंगा॥
तिन्हहिं निपाति ताहि सन बाजा।
भिरे जुगल मानहु गजराजा॥
मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई।
ताहि एक छन मुरछा आई॥
उठि बहोरि कीन्हेसि बहु माया।
जीति न जाय प्रभंजनजाया॥

दोहा

ब्रह्म अस्त्र तेहि साधा, कपि मन कीन्ह बिचार।
जौं न ब्रह्मसर मानौं महिमा मिटइ अपार॥ १८॥

चौपाई

ब्रह्मवान कपि कहँ तेहि मारा।
परतिहुँ बार कटकु संघारा॥
तेहि देखा कपि मुरुछित भयऊ।
नागपास बाँधेसि लेइ गयऊ॥
जासु नाम जपि सुनहु भवानी।
भवबंधन काटहिं नर ज्ञानी॥
तासु दूत की बँध तर आवा।
प्रभुकारज लगि कपिहि बँधावा॥
कपिबंधन सुनि निसिचर धाये।
कौतुक लागि सभा सब आये॥
दस-मुख-सभा दीखि कपि जाई।
कहि न जाइ कछु अतिप्रभुताई॥
कर जोरे सुर दिसिप विनीता।
भृकुटि विलोकत सकल सभीता॥
देखि प्रताप न कपिमन संका।
जिमि अहिगन महँ गरुड असंका॥

दोहा

कपिहि विलोकि दसानन, विहँसा कहि दुर्वाद।
सुत-वध-सुरति कीन्ह पुनि, उपजा हृदय विषाद॥ १६॥

चौपाई

कह लंकेस कवन तैं कीसा।
केहि के बल घालेहि बन खीसा॥
की धौं स्रवन सुने नहिं मोही।
देखेउँ अतिअसंक सठ तोही॥

मारे निसिचर केहि अपराधा।
कहु सठ तोहि न प्रान कै बाधा॥
सुनु रावन ब्रह्मांडनिकाया।
पाइ जासु बल विरचित माया॥
जा के बल बिरंचि हरि ईसा।
पालत सृजत हरत दससीसा॥
जा बल सीस धरत सहसानन।
अंडकोस समेत गिरि कानन॥
धरे जो विविध देह सुरत्राता।
तुम से सठन्ह सिखावनदाता॥
हरकोदंड कठिन जेहि भंजा।
तेहि समेत नृप दल मद गंजा॥
खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली।
बधे सकल अतुलित बल साली॥

दोहा

जा के बल लवलेस ते जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रियनारि॥

चौपाई

जानउँ मैं तुम्हारि प्रभुताई।
सहसबाहु सन परी लराई।
समर बालि सन करि जस पावा।
सुनि कपिबचन बिहँसि बहरावा।
खायउँ फल प्रभु लागी भूखा।
कपिसुभाव ते तोरेउँ रूखा।

मम के देह परमप्रिय स्वामी।
मारहिं मोहि कु-मारग-गामी॥
जिन्ह मोहि मारा ते मैं मारे।
तेहि पर बाँधेउ तनय तुम्हारे॥
मोहि न कछु बाँधे कइ लाजा।
कीन्ह चहउँ निजप्रभु कर काजा॥
बिनती करउँ जोरि कर रावन।
सुनहु मान तजि मोर सिखावन॥
देखहु तुम्ह निजकुलहि बिचारी।
भ्रम तजि भजहु भगत-भय-हारी॥
जाके डर अति काल डेराई।
जो सुर असुर चराचर खाई॥
तासों बैर कबहुँ नहिं कीजै।
मोरे कहे जानकी दीजै॥

दोहा

प्रनतपाल रघुनायक, करुनासिंधु खरारि।
गये सरन प्रभु राखिहहिं, तव अपराध बिसारि॥२

चौपाई

राम-चरन-पंकज उर धरहू।
लंका अ-चल-राज तुम्ह करहू॥
रिषि-पुलस्ति-जस बिमलमयंका।
तेहि ससि महँ जनि होहु कलंका॥
रामनाम बिनु गिरा न सोहा।
देखु बिचारि त्यागि मद मोहा॥
बसनहीन नहिं सोह सुरारी।
सब-भूषन-भूषित बरनारी॥

रामविमुख संपति प्रभुताई।
जाइ रही पाइ बिनु पाई॥
सजल मूल जिन्ह सरितन्ह नाही।
बरषि गये पुनि तबहि सुखाही॥
सुनु दसकंठ कहउँ पन रोपी।
बिमुखराम त्राता नहिं कोपी॥
संकर सहस विष्णु अज तोही।
सकहिं न राखि राम कर द्रोही॥

दोहा

मोहमूल बहु सूल प्रद, त्यागहु तम अभिमान
भजहु राम रघुनायक, कृपासिंधु भगवान॥..

चौपाई

जदपि कही कपि अतिहित बानी।
भगति बिबेक-बिरति नय सानी॥
बोला बिहँसि महा अभिमानी।
मिला हमहि कपि गुरु बड़ ग्यानी॥
मृत्यु निकट आई खल तोही।
लागेसि अधम सिखावन मोही॥
उलटा होइहि कह हनुमाना।
मतिभ्रम तोरि प्रगट मैं जाना॥
सुनि कपिबचन बहुत खिसिआना।
बेगि न हरहु मूढ़ कर प्राना॥
सुनत निसाचर मारन धाये।
सचिवन्ह सहित बिभीषन आये॥
नाइ सीस करि बिनय बहूता।
नीतिबिरोध न मारिय दूता॥

दोहा

हरि प्रेरित तेहि अवसर, चले मरुत उनचास।
अट्टहास करि गर्जा, कपि बढ़ि लाग अकास ॥ २४ ॥

चौपाई

देह विसाल परम हरुआई।
मंदिर तें मंदिर चढ़ धाई॥
जरइ नगर भा लोग बिहाला।
झपट लपट बहु कोटि कराला॥
तात मातु हा सुनिय पुकारा।
यहि अवसर को हमहि उबारा॥
हम जो कहा यह कपि नहिं होई।
बानररूप धरें सुर कोई॥
साधुअवज्ञा कर फल ऐसा।
जरइ नगर अनाथ कर जैसा॥
जारा नगर निमिष एक माहीं।
एक विभीषन कर गृह नाहीं॥
ता कर दूत अनल जेहि सिरिजा।
जरा न सो तेहि कारन गिरिजा॥
उलटि पलटि लंका सब जारी
कूदि परा पुनि सिंधु मझारी॥

दोहा

पूँछि बुझाइ खोइ श्रम, धरि लघुरूप बहोरि।
जनकसुता कें आगें, ठाढ़ भयउ कर जोरि ॥ २५ ॥

चौपाई

मातु मोहि दीजे कछु चीन्हा।
जैसे रघुनायक मोहि दीन्हा॥
चूड़ामनि उतारि तब दयऊ।
हरषसमेत पवन सुत लयऊ॥
कहेउ तात अस मोर प्रनामा।
सब प्रकार प्रभु पूरनकामा॥
दीन-दयालु-विरुद संभारी।
हरहु नाथ मम संकट भारी॥
तात सक्र-सुत कथा सुनायहु।
बानप्रताप प्रभुहिं समुझायहु॥
मास दिवस महँ नाथ न आवा।
तौ पुनि मोहि जियत नहिं पावा॥
कहु कपि केहिविधि राखउँ प्राना।
तुम्हहूँ तात कहत अब जाना॥
तोहि देखि सीतल भइ छाती।
पुनि मो कहुँ सोइ दिनु सोइ राती॥

दोहा

सुतहिं समुझाइ करि, बहुविधि धीरजु दीन्ह।
कमल सिर नाइ कपि, गवँनु राम पहिं कीन्ह॥

—"तुल

१०—नीति के दोहे

(सन् १६४०)

मेरी भवबाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाईं परै, श्याम हरित दुति होइ ॥ १ ॥

कोटि जतन कोऊ करै, परै न प्रकृतिहिं बीच।
नल बल जल ऊँचो चढ़ै, अन्त नीच को नीच ॥ २ ॥

ओछे बड़े न ह्वै सकैं, लगि सतरौहैं बैन।
दीरघ होहिं न नैक हूँ, फारि निहारैं नैन ॥ ३ ॥

मीत न नीति गलीत यह, जो धरिये धन जोरि।
खाये खरचे जो बचे, तो जोरिये करोरि ॥ ४ ॥

घर घर डोलत दीन ह्वै, जन जन याचत जाय।
दिये लोभ चसमा चखन, लघु पुनि बड़ो लखाय ॥ ५ ॥

को कहि सकै बड़ेन सों, लखे बड़ी यों भूल।
दीन्हें दई गुलाब के, इन डारन वे फूल ॥ ६ ॥

नर की अरु नलनीर की, गति एकै कर जोय।
जेतो नीचो ह्वै चले, तेतो ऊँचो होय ॥ ७ ॥

बढ़त बढ़त संपति सलिल, मन सरोज बढ़ि जाय।
घटत घटत फिर ना घटै, बरु समूल कुम्हिलाय ॥ ८ ॥

कर लै सूँघि सराहि कै, सबै रहे गहि मौन।
गन्धी गन्ध गुलाब को, गँवई गाहक कौन ॥ ९ ॥

करि फुलेल को आचमन, मीठो कहत सराहि।
रे गन्धी मति अन्ध तू, अतर दिखावत काहि ॥ १० ॥

बड़े न हूजे गुनन बिन, बिरद
कहत धतूरे सों कनक, गहनो

कनक कनक ते सौ गुनी, मादकता
वह खाये बौरात है, यह

सङ्गत सुमति न पावही, परे कु
राखहु मेल कपूर में, हींग न

को छोड्यो यह जाल परि, कत कु
ज्यों ज्यों सुरभि भज्यो चहै, त्यों त्यों

कैसे छोटे नरन तें, सरत
मढ्यो दमामा जात क्यों, लै चू

अति अगाध अति औथरो, नदी
सो ताको सागर जहाँ, जा की

सोरठा

मैं देख्यो निरधार, यह जग काँचो काँ
एकै रूप अपार, प्रतिबिम्बित लखिय

दोहा

दीरघ साँस न लेहि दुःख, नृ साँईहि
दई दई क्यों करत हैं, दई दई सुक

कह लाने एकत बसत, अहि मयूर
जगत तपोवन सों कियो, दीरघ दाघ

कोउ कैारिक संग्रहो, कोउ लाख
मो सम्पति यदुपति सदा, विपति विदा

बार बैरी मारि डारे रंजक दगनि मानों अगिनि रिसाने को सैद अफगान सेन सगर सुतन लागी कपिल सराप ला तर नोपखाने की ॥ ७ ॥

धाक धक धमू के धधाक धक चहूँ ओर धाक सी फि धाक चम्पति के लाल की। भूषन भनत पातसाही मारि उ कीन्हों काहू उमराव का करेरी करवाल की ॥ सुनि सुनि री बिरदैत के बड़प्पन की थप्पन उथप्पन की बानि छत्रसाल की जङ्ग जीतिलेवा ते वै हूँ कै दामदेवा भूप सेवा लागे करन महेव महिपाल की ॥ ८ ॥

कीबे को समान प्रभु ढूँढि देख्यो आन पै निदान दा युद्ध में न कोऊ ठहरात हैं। पञ्चम प्रचड भुज दण्ड के बखान सुनि भागिवे को पच्छी लौं पठान थहरात हैं ॥ सङ्क मानि सूखत अमीर दीली वारे जब चम्पति के नन्द के नगा घहरात हैं। चहूँ ओर चकित चकत्ता के दलन पर छत्ता के प्रताप के पताके फहरात हैं ॥ ९ ॥

राजत अखण्ड तेज छाजत सुजस बड़ो गाजत गयन्द दिग्गज हिय साल को। जाहि के प्रताप सों मलीन आफताप होत ताप तजि दुजन करत बहु ख्याल को ॥ साज सजि गज तुरी पैदरि कतार दीन्हें भूषन भनत ऐसो दीन प्रतिपाल को? और राव राजा एक मन में न ल्याऊँ अब साहू को सराहौं कै सराहौं छत्रसाल को ॥ १० ॥

—भूषण

१३—भजन

(सन् १७५०)

हे रघुकुल भूषण दुष्ट विदूषण सीतापति भगवान हरे।
नवपङ्कज लोचन भवभय मोचन अति उदार गुण दिव्य भरे॥

(जरा जन्तु चोकन के, चिन्ता जल ढोकन के)
रोग सोक मोकन के झोंक कैसे सहती।
होते जो न मातु तेरे चरन करन धार
मैया यह नैया मेरी कैसे पार लहती ॥ ३ ॥
—रामचन्द्र

१५—वसन्त वर्णन

(सन् १८२०)

कूलन में केलि में कछारन में कुंजन में
क्यारिन में कलिन कलीन किलकंत है।
कहै पदमाकर परागन में पानहू में
पानन में पीक में पलाशनं पतंग है॥
द्वार में दिशान में दुनो में देश देशन में
देखो दीप दीपन में दीपत दिगंत है।
बीथिन में ब्रज में नवेलिन में बेलिन में
बनन में बागन में बगरो बसन्त है॥ १॥

और भाँति कुंजन में गुंजरत भौंर भीर,
और डौर झौरन में बौरन के ह्वै गये।
कहै पदमाकर सु औरै भाँति गलियान
छलिया छबीले छैल औरै छबि छ्वै गये॥
और भाँति विहंग समाज में अवाज होत
ऐसो ऋतुराज के न आज दिन ह्वै गये।
औरै रस औरै रीति औरै राग औरै रंग
औरै तन औरै मन औरै बन ह्वै गये ॥२॥

१६—पद्य

(सन् १८६०)

मुसकी मदरौर मौर महुवर मटीहा,
मानो लखौरी लखीलाल लीलो लहरदारो है।
पंचरंग पोलग पिलंगमुख पट्टनौ,
बहर विहार यादामी तीततारो है॥
तेलिया तिलकदर तुरकी दरियाई टोप,
मयलख मवथा मवरा न कुलचारो है।
जारद जरद नुकरा नागार निसून,
धूम लक्ष्मणसिंह छत्तिस तुखारो है॥

—राजा लक्ष्मणसिंह

१७—प्रलाप

(सन् १८७५)

[१]

प्रभु हो! ऐसी तो न विसारो।
कहत पुकार नाथ तुम रूठे कहुँ न निवाह हमारो॥
जो हम बुरे होइ नहिं चूकत नित ही करत बुराई।
तो फिर भले होइ तुम छाँड़त काहे नाथ भलाई॥
जो बालक अरभाइ खेल में जननी सुधि बिसरावै।
तौ कहा माता ताहि कुपित ह्वै, ता दिन दूध न प्यावै॥
मान पिता गुरु स्वामी ... कृपा उर लावै।
जौ सिसु सेवक ... निशदिन पावै॥
भवभयहारी।
... की बारी॥

[२]

नाथ तुम अपनी ओर निहारो ।
हमरी ओर न देखहु प्यारे निज गुनगनन विचारो ॥
जो लखते अब लौं जन औगुन अपने गुन बिसराई
तौ तरते किमि अजामेल से पापी देहु बताई ।
अबलौं तो कबहूँ नहिं देख्यो जन के औगुन प्यारे
तौ अब नाथ नई क्यों ठानत भाखहु बार हमारे ।
तुम गुन छमा दया सों मेरे अघ नहिं बड़े कन्हाई
तासों तारि लेउ नँदनन्दन "हरीचन्द" को धाई ।

[३]

मेरी देखहु नाथ कुचाली ।
लोक वेद दोउन सों न्यारी हम निज रीति निकाली
जैसो करम करे जग में जो सो तैसो फल पावै
यह मरजाद मिटावन को नित मन में मेरे आवै
न्याव सहज गुन तुम्हरो जग के सब मतवारे जाने
नाथ ढिठाई लखो ताहि हम निहचय झूठो जानै
पुन्यहि हेम हथकड़ी समझत तासों नहिं बिलामा
दयानिधान नाम को केवल या हरिचन्दहि भामा

[४]

अहो इन झूठन मोहि भुलायो ।
कबहु जगत के कबहु स्वर्ग के स्वादन मोहि ललचायो
भले होहिं किन लोह हेम की पुन्य पाप, दोउ बेरें
लोभ मूल परमारथ स्वारथ नामहि में कछु फेरें

कहा स्याम थी ग्वालिनी कारो की पूरी।
जिनके सङ्ग बन मैं फिरे हरि करत मँजूरी ॥
ब्रज के मृग पशु भीलनी मूल विटप जेते।
पशु पच्छिन मानै सबै कलानिधि तेते ॥
कहा अधम अब मो भयो "हरीचन्द" निवारी।
जिहि मायो नरकहि लियो गहि बाँह उबारी ॥

[७]

होउ हरि हूँ मैं ते सब एक।
कै मारौ कै तारौ मोहन छाँडि आपनी टेक ॥
बहुत भई सहिजात नहीं अब करहु विलम्ब न नेक।
"हरीचन्द" छाँडौ हो लालन पावन पतित विवेक ॥

[८]

नावरी मेरी झाँझरी हो, जाय परी मझधार।
निसि अँधियारो घनो लागत है उलटी बहति बयार ॥
सूझत नहिं उपाय बिनु केवट कोउ न सुनत पुकार।
"हरीचन्द" डूबत कुसमय में धाइ लगाओ पार ॥

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

१८—चित्रकूट वर्णन

(सन् १८९०)

सम सुखद सब ऋतु में रहे जो शैल मन भावन घना।
स्वादिष्ट फल सुरभित सुमन संकुल द्रुमावलि से घना ॥
लपटीं मनोहर लता जिन पर वर विहङ्गम बोलते।
जिनके निकुंजों में प्रमत्त मतंग मृग नित डोलते ॥

त भारत में भई, नित भारतहि में रहहुँगो।
सय भारतहि के धर्म कर्म विचार दृढ़ कर गहहुँगो ॥ ५ ॥

—प्रतापनरायण मिश्र

२०—वृद्धावस्था

र बुढ़ापा तोहरे मारे अब तो हम नकन्याय गयन।
करत धरत कछु बनते नाहीं कहाँ जान औ कैस करन ॥
दाढ़ी नाक याक माँ मिलिगै बिन दाँतन मुँह अस पोपलान।
दाढ़ीही पर बहि बहि आवति है कत्रौ तमाखू जौ फाँकन ॥
वार पाकिगे रीरो झुकिगै मूड़ौ सासुर हालन लाग।
हाथ पाँय कुछु न आपनि केहि के आगे दुखरवावन ॥

—प्रतापनारायण मिश्र

२१—सूर्यग्रहण पर अन्योक्ति

(सन् १९००)

[१]

रे रजनीश निरङ्कुश तूने, दिननायक का ग्रास किय
नेक न धूप रही धरणी पै, घोर तिमिर ने ।वास किय

[२]

जिसको पाय चमकता था तू, अधम उसी को रोक रहा
धिक पापिष्ट, कृतघ्न, कलङ्की, तेज त्याग तम पास किया

[३]

मन्द हुआ सुन्दर मुख तेरा, छिटकी छवि तारागण क
अपने आप जाति में अपना, क्यों इतना उपहास कि

[४]

जुगनू जाग उठे जङ्गल में, दिये नगर मे जलवाये।
ईश महा महिमा महान की, अणु का तुच्छ विकाश किया॥

[५]

उल्लू मान निशाचर मारें, चरते और विचरते हैं।
दिन के कर दिया रजनी का, देव समाज उदास किया॥

[६]

रवि-प्रभा बिन घन-पुष्पों में, सार सुगन्ध न कढ़ते हैं।
ऐसे काल नैसर्गिक विधि को, दिव्य हवन का ह्रास किया॥

[७]

किन चकोर चाह के चेरे, चिनगी चुगते फिरते हैं।
पुष्प, पग, पंख जलानेवाला, ज्वलित चन्द्रिका भास किया॥

[८]

श्वान, शृगाल, उलूक पुकारें, सकुचे कञ्ज, कुमोद खिले।
जोड़ तोड़ चकई चकवों के, खण्डित प्रेम विलास किया॥

[९]

दिन में चुगने वाली चिड़िया, हा! अब कहीं न उड़ती है।
सबके उद्यम हरने वाला प्रकट तामसिक त्रास किया॥

[१०]

नाम सुधाकर ने पर तूने, विष बरसाना सीखा है
विरहानल को भड़काने का, अति उत्तम अभ्यास किया॥

[११]

घट घट कर पूरा होता है, घटता घटता छुपता है।
दो उन्नति अवनति के द्वारा पक्षभेद प्रति मास किया॥

[१२]

छुटने लगी तुम अब नींदें, उगलो कोर प्रभाकर के
फिर दिन का दिन हो जायेगा, मत क्यों वृथा प्रयाम किया

[१३]

दिव्य उजाला देकर तुझको, पश्चौ फिर चमकायेगा-
कह दे कब सविता स्वामी ने, ढीला अपना काम किया

—नाथूराम शङ्कर शर्म्मा

२२–रघुवंश

दूसरा सर्ग

(नन्दिनी का वरदान देना)

(सन् १९००)

चौपाई

भये प्रभात धेनु ढिग जाई।
पूजि रानि माला पहिराई॥
बच्छ पियाइ बाँधि तब राजा।
खोल्यो नाहि चरावन काजा॥
परत धरनि गो चरन सुहावन।
सो मग धूरि होत अति पावन॥
चली भूप तिय सोइ मग माहीं।
स्मृति श्रुति अर्थ संग जिमिजाहीं॥
चौ सिंधुन थन रुचिर बनाई।
धरनिहिं मनहु बनी तहँ गाई॥
प्रिया फेरि अवधेश कृपाला।
रक्षा कीन्ह तासु तेहिं काला॥

बन महँ चले गाय कर आगे।
सेवक होय सकल नृप त्यागे॥
इक केवल निज वीर्य अपारा।
मनु-सन्तति तन रच्छनहारा॥
कबहुँक मृदु तृन नोचि खिलावत।
हाँकि माछि कहुँ तनहिं खुजावत॥
जो दिसि चलत चलत सोइ राहा।
यहि विधि तेहि सेवत नर नाहा॥
जहँ बैठी सोइ धेनु अनूपा।
बैठे तहँहि अवधपुर भूपा॥
खड़े ताहि ठाढ़ी नृप जानी।
चले चलत धेनुहि अनुमानी॥
पियत नीर कीन्हों जलपाना।
रहे तासु संग छाँह समाना॥
राज-चिह्न यद्यपि सब त्यागे।
तऊ तेजबल नृप सोइ लागे॥
छिपे दान रेखा के संगा।
होत मनहु मद-मत्त मतंगा॥
केश लता सब बाँधि बनाए।
बन विचरो धेनु बान चढ़ाए॥
अपर धेनु रच्छक जनु होई।
आयो पगुन सुधारन सोई॥
बरन सरसि धरि तेज प्रभाऊ।
चले अदपि सेवक बिनु काऊ॥
तरु पंछिन करि शब्द सुहाया।
जनु चहुँदिसि जय-घोष सुनाया॥

जानि निकट कोशल-पति आए।
फूल वायु-वश लता गिराए॥
जिमि गंधर्व निजपुर जब आवहिं।
धान नगर-कन्या बरसावहिं॥
चले अद्पि-नृप कर धनुधारी।
तउँ दयाल तेहि हरिनि विचारी॥
निरखत तासु शरीर मनोहर।
लोचन फल पायो तेहि अवसर॥
भरि भरि पवन रन्ध्र युत वासा।
वेणु-शब्द तब करत प्रकाशा॥
वन वैपिन कुंजन महँ जाई।
नृप-कीरति तहँ गाइ सुनाई॥
आनि घामवस म्लान शरीरा।
ले सुगन्ध सोइ मिलत समीरा॥
वन रक्षक तेहि आवत जानी।
विना वृष्टि वन आग बुझानी॥
बाँध्यो सबल निबल पशु नाहीं।
भे फल फूल अधिक वन माहीं॥
करि पवित्र दिसिचहुँ दिसि जाई।
धेनु साँझ आश्रम कहँ आई॥
यज्ञ-श्राद्ध साधन सोई साथा।
इमि सोहत तहँ कोशल नाथा॥
श्रद्धा मनहुँ दृश्य तनु धारी।
सोहत सन्त प्रवह मझारी॥
जल सन उठत वराह-समूहा।
चलत दक्ष दिशि नभचर जूहा॥

जिन नृप भुज-बल शत्रु गिराए।
दुहन अन्त गो-सेवन आए॥
पुनि चलो संग भूप 'दिलीपा'।
धारि धेनु आगे बलि दीपा॥
सोए तहँ तेहि सेवत जानी।
जागे, जगी, धेनु अनुमानी॥
सन्तति हित सेवत यहि भाँती।
बीते त्रिगुण, सप्त दिन राती॥
भक्त चित्त परखन एक बारा।
हिम-गिरि-गुहा धेनु पग धारा॥
मनहुँ न सकहिं जन्तु यहि मारी।
यह नरेश मन माहिं विचारी॥
नग छवि लगे लखन नरराई।
धेनुहि धरयो सिंह इक धाई॥
तड़पत सिंह गुहा के द्वारा।
भयो तुरत तहँ शब्द अपारा॥
भूप-दृष्टि भूधर-पति लागी।
परी धेनु पर नग-दिसि त्यागी॥
सिंहहि लख्यो धेनु पर कैसा।
गेरू गुहा लोध तरु जैसा॥
भयो क्रोध-नाहर बध काजा।
खैंचन चह्यो तीर तब राजा॥
नख-छवि कंक पत्र महँ डारी।
अँगुरिन विशिख पुंख तहँ धारी॥
हरि मारन हित खैंचत बाना।
रह्यो दहिन कर चित्र-समाना॥

सुनि हरिवचन अवधपुरपालक।
घोल्योशत्रु—वृन्द—दलघालक॥
धेनुहिं सिंह काल वस देखी।
उपजत नृप मन कृपा विसेखी॥
क्षत्रिय अर्थ सिंह जग सोई।
क्षत सन सुजन बचावै जोई॥
धिक सो राज क्षत्रियगुन हीना।
वृथा अजस वस प्रान मलीना॥
ह्वैहैं मुनि प्रसन्न केहि भांती।
दीन्हेउँ सकल धेनु की जाती॥
निश्चय लखिय सिंह मन माहीं।
कामधेनु सन यह कम नाहीं॥
छुइ न सकत यहि हरि संमारा।
हर प्रभाव तुम कीन्ह प्रहारा॥
अब मम उचित धर्म लखु यही।
दै निज देह बचावौं तेही॥
तव अहार मुनिकर मख-काजा।
रहि हैं दोउ अविघ्न मृगराजा॥
तुमहुँ मित्र यह लखहु विचारी।
देवदारु यह थाति तुम्हारी॥
रक्ष्य नासि बिनु आप नसाने।
स्वामि सौंह किमि जाहिं सयाने॥
बधत मोहिं लागति जो दाया।
मैं जस-देह राखु मृग-राया॥
निश्चय नाम देह कर जानत।
मो सम तनहि तुच्छ कर मानत॥

सुनि हरिवचन अवधपुरपालक।
बोल्योशत्रु—वृन्द—दलघालक॥
धेनुहिं सिंह काल बस देखी।
उपजत नृप मन कृपा विसेखी॥
क्षत्रिय अर्थ सिंह जग सोई।
क्षत सन सुजन बचावै जोई॥
धिक सो राज क्षत्रियगुन हीना।
वृथा अजस बस प्रान मलीना॥
ह्वैहैं मुनि प्रसन्न केहि भाँती।
दीन्हेउँ सकल धेनु की जाती॥
निश्चय लखिय सिंह मन माहीं।
कामधेनु सन यह कम नाहीं॥
छुइ न सकत यहि हरि संसारा।
हर प्रभाव तुम कीन्ह प्रहारा॥
मेव मम उचित धर्म्म लखु यही।
दै निज देह बचावौं तेही॥
तव अहार मुनिकर मख-काजा।
रहि है दोउ अविघ्न मृगराजा॥
तुमहुँ मित्र यह लखहु विचारी।
देवदारु यह थाति तुम्हारी॥
रक्ष्य नासि बिनु आप नसाने।
स्वामि सौंह किमि जाहिं सयाने॥
प्रधत मोहिं लागति जो दाया।
मैं जस-देह राखु मृग-राया॥
निश्चय नाम देह कर जानत।
सो सम तनहि तुच्छ कर मानत॥

निज पलधीर प्रमिद महीसा।
दोउ कर जोर नाय पद सीसा॥
बोले "मातु अनुग्रह कीजै।
"हैं प्रसन्न मोहि यह वर दीजै॥
मिलै मागधी सनसुत सोई।
चहुँदिसि विदित जासु यशहोई॥
करि पूरन नरेश अभिलाषा।
"एवमस्तु" सौरभि तहँ भाषा॥
दुहि मम दूध पत्र महँ राऊ।
पय लहुसुत इक अमित-प्रभाऊ॥
मम हितदुहि पुनिवच्छ पियाई।
शेष दूध ऋषि-आयसु पाई॥
चाहहुँ करन मातु मैं पाना।
रक्षित महि पट भाग समाना॥
सुनि यहि भाँति मगधपति-रानी।
मुनिवर धेनु मतिहि हरखानी॥
भूधर-राज-गुहा पुनि त्यागी।
लौटी धेनु भूप संग लागी॥
अति प्रसन्न गुरु सन नर देवा।
विकसत बदन कह्यो सबभेवा॥
लखि पति मुदितसफल अनुमाना।
तिनहिं कहे रानी सब जाना॥
धेनु-दूध पुनि विधि अनुरूपा।
पियो रानि संग कोसल भूपा॥
भये प्रभात वसिष्ठ मुनीसा।
तिनहिं देइ प्रस्थान-असीसा॥

लोकपाल-शुचि-तेज-मय , प्रबल तेज गुन खानि।
नरपति-कुल की वृद्धि हित, धरो गर्भ तिमि रानि॥
—लाला सीताराम

२३—द्रौपदी वचन-बाणावली

(सन् १९०६)

धर्मराज से, दुर्योधन की इस प्रकार सुन सिद्धि विशाल,
चिन्तनकर अपकार शत्रुकृत, कृष्णा कोप न सकी सँभाल।
क्रोध और उद्योग बढ़ानेवाली, तब वह गिरा रसाल,
महीपाल को सम्बोधन कर बोली युक्तियुक्त तत्काल। १
आप सदृश पण्डित के सम्मुख निपट नीच-नारी की बात,
तिरस्कार कारकसी होती है हे नरपति कुल-विख्यात।
वस्त्रहरण आदिक अति दुःसह दुःख, तथापि आज इसकाल,
बार बार प्रेरित करते हैं मुझे बोलने को भूपाल। २
तेरे ही वंशज महीश्वर सुरनायकसम तेज निधान,
जो धरणी अखण्ड इस दिनतक धारण किये रहे बलवान।
हा हा! वही मही निज कर से तूने ऐसी फेंकी आज,
सिर से हार फेंक देता है जैसे महामत्त गजराज। ३
कपटी कुटिल मनुष्यों से जो जग में कपट न करते हैं,
वे मतिमन्द मूढ़ नर निश्चय पाय पराभव मरते हैं।
उनमें कर प्रवेश, फिर उनको शठ यों मार गिराते हैं,
कवचहीन तनु से ज्यों पैने बाण प्राण ले जाते हैं। ४
हे साधन सम्पन्न नराधिप, हे क्षत्रियकुल-अभिमानी,
कुलजा गुणगरिमा वशंवदा यह लक्ष्मी सब सुख खानी।
तुझे छोड़कर अन्य कौन नृप इसको दूर हटावेगा,
[illegible] मनोरमा रमणी सम रिपु से हरण करावेगा। ५

यही, आज तू कुश कार्यों से युक्त भूमि पर सोता है,
अति कर्कश शृगाल शब्दों से हा हा ! निद्रा खोता है। १
द्विज भोजन से बचा हुआ शुचि षटरस मय पुष्टिकारी,
खाकर, जिसने इस शरीर का पहले किया मनोहारी।
भूप ! वही तू, आज उदर निज बनफल खाकर भरता है;
यश के साथ देह भी अपना हा हा हा ! कृश करता है। १
रत्न-खचित सिंहासन ऊपर जो सदैव ही रहते थे,
नृप मुकुटों के सुमन रजःकण जिनको भूषित करते थे।
मुनियों और मृगों के द्वारा खण्डित कुश युत बन भीतर,
अहह ! तात फिरते रहते हैं वेही तेरे पद मृदुतर। १
यह विचार कर कि यह दुर्दशा वैरी ने की है भूपाल !
हृदय समूल उखड़ जाता है, पाती हूँ, मैं व्यथा विशाल।
जिन मानी पुरुषों का विक्रम हर नहिं सके शत्रु-कुलकेतु,
उनकी ईश्वरदत्त हार भी होती है सुख ही का हेतु। १
मुझपर करके कृपा धीरता धारण करिये फिर इस बार,
क्षमा छोड़िये; जिसमें रिपु का होवे नृप सत्वर संहार।
चढ़िपुनाशक सहनशीलता निस्पृह मुनियों ही के योग्य,
भूपालों के लिये सर्वदा यह सब भाँति अयोग्य अयोग्य। १
तेरे सम तेजोनिधान नर यशोरूप धन के धनवान,
हैं महीप ! अरि से पाकर भी, यदि ऐसा दुःसह अपमान।
बैठे रहें शान्तचित धारण, किये हुए सन्तोष महान,
तो हा हा ! हत हुआ, निराश्रय मानवान पुरुषों का मान। १
तुझे तुच्छ जँचते हैं यदि ये शौर्य आदि शुभ गुण समुदाय,
क्षमा अकेली सतत सौख्य का मूल जान पड़ती है हाय !
तो यह राजधर्म का सूचक वीरोचित कोदण्ड विहाय,
यहीं समखण्ड अग्नि की सेवा करता रह तू जटा बढ़ाय। १

कपट कर रहा है रिपु, इससे तुझ तेजस्वी को महिपाल ।
पालन करना नहीं चाहिये पूर्वप्रतिज्ञा प्रण इस काल ।
अरि पर विजय चाहने वाले धराधीश बलबुद्धि निकेत,
विविध दोष, की हुई सन्धि में, दिखलाते हैं युक्ति समेत । १९ ।
दैवयोग से दुःखोदधि में तुझ डूबे को यह आशीस,
धननाश होने पर लक्ष्मी मिले पुनः ऐसे अवनीश ।
जैसे प्रातःकाल, सिन्धु में मग्नहुए दिनकर को आप;
तिमिर राशि हटने पर, दिन की शोभा मिलती है सुउपाय । २० ।
भारविरूपी कवि सविता की कविता विद्वज्जन की प्राण,
अति उद्भट अति अगम मनोहर महा अलौकिक अर्थ निधान ।
पुष्प अतिशय अल्पज्ञ अज्ञ कृत यह उसका जघन्य अनुवाद,
अनुशीलन कर हे रसज्ञजन! करिये मेरे क्षमा प्रमाद । २१ ।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी

२४–शरद वर्णन

(सन् १९१०)

सोहैं सरोज सित सुन्दर सिन्धु माथे
नीलारविन्द घन धौं हिम बिन्दु छाये ।
हीरे विशाल वर नीलम डील माहीं
छूटे किधौं प्रकृति कामदुकूल माहीं ॥
आवै किधौं तमहि जीतन रैनराज,
मैदान माहिं दल तासु रह्यो विराज ।
कोधौं विरंचि लिखि कै महिमार्थ सार,
श्री ब्रह्म को विरद पत्र रच्यो अपार ॥
कै सेवती सुमन नन्दन बाग बारे
जो सूंघि सूंघि मन में अमरेश हारे ।

आया तिया कि पिय पूरन ब्रह्म काजै,
पर्यङ्क पै पुहुप पुञ्ज अपार साजै॥
कै रैन चन्द सुत वृन्द अनन्त प्यारे,
आनन्द धाम विहरैं कवियन्त वारे।
पूजै कि भक्तवर अम्बर श्री हरी को,
सोज सुदिव्य यह दीपक आरती को॥

—राय देवीप्रसाद पू

२५—यशोदा का विलाप

(सन् १९१०)

प्रिय सुत वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है,
दुख-जलनिधि-डूबी का सहारा कहाँ है।
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ,
वह हृदय हमारा नैन-तारा कहाँ है॥ १॥

पल पल जिसके मैं पन्थ को देखती थी,
निशिदिन जिसके ही ध्यान में थी बिताती।
उर पर जिसके है सोहती मुक्त माला,
वह नव नलिनी से नैनवाला कहाँ है॥ २॥

मुख विजित जरा का एक जो है अधारा,
वह परम अनूठा रत्न सर्वस्व मेरा।
धन मुझ निधनी का लोचनों का उजाला,
सजल जलद की सी कान्तिवाला कहाँ है॥ ३॥

प्रतिदिन जिसको मैं अङ्क में नाथ लेके,
निज सकल कुअङ्कों की क्रिया कीलती थी।

अति प्रिय जिसको है वस्त्र पीला निराला,
 यह किशलय के से अङ्गवाला कहाँ है ॥ ४ ॥

वर वदन विलोके फुल्ल अम्भोज ऐसा,
 करतल-गत होता व्योम का चन्द्रमा था।
मृदु रव जिसका है रक्त सूखी नसों का,
 वह मधुमयकारी मानसों का कहाँ है ॥ ५ ॥

रसमय वचनों से नाथ जो सर्वदा ही,
 मम सदन बहाता स्वर्ग-मन्दाकिनी था।
श्रुति-पुट टपकाता बूँद जो था सुधा की,
 वह नव धनि न्यारी मञ्जुता का कहाँ है ॥ ६ ॥

स्वकुल-जलज का है जो समुत्फुल्लकारी
 मम परम-निराशा-यामिनी का विनाशी।
ब्रज जन विहगों के वृन्द का मोददाता,
 वह दिनकर शोभी राम-भ्राता कहाँ है ॥ ७ ॥

मुख पर जिसके है सौम्यता खेलती सी,
 अनुपम जिसका है शील सौजन्य पाती।
परदुख लख के है जो समुद्विग्न होता,
 वह सरलपने का स्वच्छ सोता कहाँ है ॥ ८ ॥

हृद-तिमिर निराशा का समाकीर्ण जो था,
 निज मुख-द्युति से है जो उसे ध्वंसकारी।
सुखकर जिससे है कामिनी जन्म मेरा,
 वह रुचिकर चित्रों का चितेरा कहाँ है ॥ ९ ॥

मरकर कितने ही कर की सकूटों का,
 बहु दनुज कराके पूछते जिन्हों का।

वह सुमन मिला है जो मुझे यत्न द्वारा,
प्रियतम वह मेरा कृष्ण प्यारा कहाँ है ॥ १० ॥
मुखरित करता जो सद्म को था सुखी सा,
कलरव करता था जो खगों सा वनों में।
सुध्वनित पिक सों जो वाटिका था बनाता,
वह बहु-विध कण्ठों का विधाता कहाँ है ॥ ११ ॥
खगमृग जिसके थे गान से मत्त होते,
तरुगण हरियाली थी महा दिव्य होती।
पुलकित करती थी जो लता बेलि सारी,
उस कल मुरली का नादकारी कहाँ है ॥ १२ ॥
जिस प्रिय बिन सूना ग्राम सारा हुआ है,
प्रति सदन बड़ी ही छा गई है उदासी।
जिस बिन ब्रज भू में है न होता उजाला,
वह निपट निराली कान्तिवाला कहाँ है ॥ १३ ॥
बन बन फिरती हैं खिन्न गायें अनेकों,
शुक भर भर आँखें भौन को देखता है।
सुधि कर जिसकी है सारिका नित्य रोती,
वह निधि मृदुता का मञ्जु मोती कहाँ है ॥ १४ ॥
गृह गृह अकुलाती गोप की पत्नियाँ हैं,
पथ पथ फिरते हैं ग्वाल भी उन्मना हो।
जिस कुँवर बिना मैं हो रही हूँ अधीरा,
वह खनि सुखमा का स्वच्छ हीरा कहाँ है ॥ १५ ॥

—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय

यदि कहीं तुम से परमार्थ हो –
यह विनश्वर देह कृतार्थ हो।
सदय हो, पर-दुःख हरो, उठो,
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो उठो ॥ ८ ॥

दोटक

नर हो, न निराश करो मन को

कुछ काम करो, कुछ काम करो,
जग में रह के कुछ नाम करो,
यह जन्म हुआ किस अर्थ अहो।
समझो, जिसमें यह व्यर्थ न हो।
कुछ तो उपयुक्त करो तन को,
नर हो, न निराश करो मन को ॥ १ ॥

संभलो कि सु-योग न जाय चला,
कब व्यर्थ हुआ सदुपाय भला।
समझो जग को न निरा सपना,
पथ आप प्रशस्त करो अपना।
अखिलेश्वर है अवलम्बन को,
नर हो, न निराश करो मन को ॥ २ ॥

जल-तुल्य निरन्तर शुद्ध रहो
प्रबलानल ज्यों अनिरुद्ध रहो।
पवनोपम स्वास्थ्यविशील रहो।
अवनीसमवद् धृतिशील रहो।
कर लो नभ-सा ऊँचा जीवन को
नर हो, न निराश करो मन को ॥ ३ ॥

अपुरुषार्थ भयङ्कर पाप है ;
न उसमें यश है, न प्रताप है।
न कृमि-कीट-समान मरो, उठो।
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो उठो ॥ ४ ॥

मनुज जीवन में, जय के लिए—
प्रथम ही दृढ़ पौरुष चाहिए।
विजय तो पुरुषार्थ विना कहाँ।
कठिन है चिरजीवन भी यहाँ।
भय नहीं, भव-सिन्धु तरो, उठो।
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो ॥ ५ ॥

यदि अनिष्ट अड़ें, अड़ते रहें।
विपुल विघ्न पड़ें, पड़ते रहें।
हृदय में पुरुषार्थ रहे भरा—
जलधि क्या, नभ क्या, फिर क्या धरा।
दृढ़ रहो ध्रुव धैर्य धरो, उठो;
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो ॥ ६

यदि अभीष्ट तुम्हें निज सत्व है।
प्रिय तुम्हें यदि मान-महत्व है।
यदि तुम्हें रखना निज नाम है ;
जगत में करना कुछ काम है।
मनुज ! तो श्रम से डरो, उठो ;
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो ॥ ७

प्रकट नित्य करो पुरुषार्थ को ;
हृदय से तज दो सब स्वार्थ को।

करके विधि-वाद न खेद करो,
निज लक्ष्य निरन्तर भेद करो।
बनता बस उद्यम ही विधि है,
मिलता जिससे सुख का निधि है।
समझो धिक् निष्क्रिय जीवन को,
नर हो, न निराश करो मन को ॥ ८ ॥

[पञ्चचामर]

वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे ॥

विचार लो कि मर्त्य हो, न मृत्यु से डरो कभी,
मरो, परन्तु यों मरो कि याद जो करें सभी।
हुई न यों सु-मृत्यु तो वृथा मरे, वृथा जिये,
मरा नहीं वही कि जो जिया न आप के लिए।
वही पशु-प्रवृत्ति है कि आप आपही चरे
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे ॥ १ ॥

उसी उदार की कथा सरस्वती बखानती,
उसी उदार से धरा कृतार्थ-भाव मानती।
उसी उदार की सदा सजीव कीर्ति कूजती
तथा उसी उदार को समस्त सृष्टि पूजती।
अखण्ड आत्मभाव जो असीम विश्व में भरे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे ॥ २ ॥

क्षुधार्त रन्तिदेव ने दिया करस्थ थाल भी,
तथा दधीचि ने दिया परार्थ अस्थिजाल भी।
उशीनर-क्षितीश ने स्वमांस दान भी किया,
सहर्ष वीर कर्ण ने शरीर-चर्म भी दिया।

जब है तुम में सब सार यहाँ।
फिर जा सकता वह सार कहाँ॥
तुम स्वत्व सुधा-रस पान करो।
उठके अमरत्व-विधान करो।
दव रूप रहो भव-कानन को,
नर हो, न निराश करो मन को॥

निज गौरव का नित ज्ञान रहे,
"हम भी कुछ हैं"—यह ध्यान रहे।
सब जाय अभी, पर मान रहे,
मरणोत्तर गुञ्जित गान रहे।
कुछ हो, न तजो निज साधन को,
नर हो, न निराश करो मन को॥ ५॥

प्रभु ने तुम को कर दान किये,
सब वाञ्छित वस्तु-विधान किये।
तुम प्राप्त करो उनको न अहो।
फिर है किसका यह दोष कहो।
समझो न अलभ्य किसी धन को,
नर हो, न निराश करो मन को॥ ६॥

किस गौरव के तुम योग्य नहीं।
कब, कौन तुम्हें सुख भोग्य नहीं॥
जन हो तुम भी जगदीश्वर के,
(सब है जिसके अपने घर के)
फिर दुर्लभ क्या उसके जन को,
नर हो, न निराश करो मन को॥ ७॥

करके विधि-वाद न खेद करो,
निज लक्ष्य निरन्तर भेद करो।
बनता बस उद्यम ही विधि है,
मिलता जिससे सुख की निधि है।
समझो धिक् निष्क्रिय जीवन को,
नर हो, न निराश करो मन को ॥ ८ ॥

[पञ्चचामर]

वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे।

विचार लो कि मर्त्य हो, न मृत्यु से डरो कभी,
मरो, परन्तु यों मरो कि याद जो करें सभी।
हुई न यों सु-मृत्यु तो वृथा मरे, वृथा जिये,
मरा नहीं वही कि जो जिया न आप के लिए।
वही पशु-प्रवृत्ति है कि आप आपही चरे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे ॥ १ ॥

उसी उदार की कथा सरस्वती बखानती,
उसी उदार से धरा कृतार्थ-भाव मानती।
उसी उदार की सदा सजीव कीर्ति कूजती
तथा उसी उदार को समस्त सृष्टि पूजती।
अखण्ड आत्मभाव जो असीम विश्व में भरे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे ॥ २ ॥

क्षुधार्त रन्तिदेव ने दिया करस्थ थाल भी
तथा दधीचि ने दिया परार्थ अस्थिजाल भी।
उशीनर-क्षितीश ने स्वमांस दान भी किया,
सहर्ष वीर कर्ण ने शरीर-चर्म भी दिया।

अनित्य देह के लिए अनादि जीव क्या डरे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे ॥ ३ ॥

सहानुभूति चाहिए, महा विभूति है यही ;
वशीकृता सदैव है बनी हुई स्वयं मही ।
विरुद्ध-वाद बुद्ध का दया-प्रवाह में बहा ;
विनीत लोकवर्ग क्या न सामने झुका रहा ।
अहा ! वही उदार है परोपकार जो करे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे ॥ ४ ॥

रहो न भूल के कभी मदान्ध तुच्छ वित्त में ;
सनाथ जान आपको करो न गर्व चित्त में ।
अनाथ कौन है यहाँ त्रिलोकनाथ साथ हैं ;
दयालु दीनबन्धु के बड़े विशाल हाथ हैं ।
अतीव भाग्यहीन है अधीर भाव जो करे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे ॥ ५ ॥

अनन्त अन्तरिक्ष में अनन्त देव हैं खड़े,
समक्ष ही स्व-बाहु जो बढ़ा रहे बड़े बड़े ।
परस्परावलम्ब से उठो, तथा बढ़ो सभी ;
अभी अमर्त्य-अङ्क में अपङ्क हो चढ़ो सभी ।
रहो न यों कि एक से न काम और का सरे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे ॥ ६ ॥

"मनुष्य मात्र बन्धु है" यही बड़ा विवेक है ;
पुराणपुरुष स्वयम्भू पिता प्रसिद्ध एक है ।
फलानुसार कर्म्म के अवश्य बाह्य भेद हैं,
परन्तु अन्तरैक्य में प्रमाणभूत वेद हैं ।

शिवि, दधीचि, कर्णादि कहानी, सुनकर सीखो नीति पुरानी।
बनना कभी न सुत! अभिमानी, परहितसे तुम कभी न मुड़ना

जबतक तुम पयपान करोगे, नित नीरोग-शरीर रहोगे।
फूलोगे नित नये फलोगे, पुत्र! कभी मद्‌पान न करना॥

भीख माँगना एकदम छोड़ो, दासवृत्ति से भी मुख मोड़ो।
सबके साथ अपनपो जोड़ो, पढ़ो पुत्र! शुभ उद्यम करना॥

जो कुछ कहदो हाथ उठाकर, उससे कभी हटो मत तिलभर।
सभ्य और शिक्षित कहलाकर, उचित सदा प्रण-पालन करना॥

पर दुखको अपना दुख मानो, देशमान को अपना जानो।
पुत्र! वृथाही हठ मत ठानो, सीखो तुम पर-दुख को हरना॥ १

निज पूर्व्वज लोगों ने कैसे, काम किये, रहते थे कैसे।
उचित तुम्हारा रहना वैसे, अनुचित बेटा! उससे डरना॥ १

स्वारथ को जो धर्म समझते, पर को दुख देकर हैं हँसते।
ईश्वर से भी तनिक न डरते, समझो उन्हें शीघ्र है मरना॥ १३

जो धोखा देने वाला हो, मुँह मीठा दिल का काला हो।
सागर हो या नद-नाला हो, उसके साथ कभी मत तरना॥ १४

कपटी, कुटिल, कुमति, कुलघालक हैं पर बनते हैं जगपालक।
जो ऐसे हों, हे प्रिय बालक! उनकी हाँ में हाँ मत करना॥ १५

जहाँ न्याय का नाम नहीं है, पक्षपात की धार बही है।
मेरा यह उपदेश सही है, पुत्र वहाँ तू नहीं ठहरना॥ १६

—रामचरित उपाध्याय

इन रूपटगं मग चाहनयं
मनुसुरलवै ग्रहराहनय ।
तिनकट्ट कलिंदय तट्टसजं
धर मंकन तार अनेकसजं ॥ ४ ॥
तिन अग्ग सुमन्त सुमग्गनय
लखि लक्खचौरासिय उट्ठनय ।
पचि खल्लिय नीलिय मानिकयं
रतनं यतनं मनितेजकयं ॥ ५ ॥
सभदिल्लिय हट्ट सुनेर मुझे
करि दन्त मिलन्त गिरन्त सुझे ।
द्वैसामत दामित रूपकला
बरबीर उठै घटि मत्तकुला ॥ ६ ॥

—चन्दवरदाई

॥ इति ॥